चार वर्ण और चार आश्रम

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(पचपनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन

प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-०० रुपए

प्रथम संस्करण] आषाढ, सम्वत् २०१० वि० [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ।

विषय सूची

खण्ड पचपन

॥ श्रीहरिः॥ (थ) धी*

गो-सेवाव्रत से ही भारत का हित-

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत।
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव॥
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपाप हरं शिवम्॥ *

(महा भारत)

सोरठा

गैयनि में अति प्रीति, गैयनिमें ई नित बसूँ।
गाऊँ गैयनि गीति, गैयनिकूँ सर वसु गनूँ॥

हमारे यहाँ तीन मैयाओ का बडा महत्व है, गैया मैया गंगा-मैया और गर्भ धारण करने वाली मैया। प्रत्येक आस्तिक भारत-वासी के रक्त में इन तीनों मैयाओं के प्रति सहज स्नेह होता है। बहुत ही अल्पावस्था में गृह त्यागी बन जाने के कारण मैं अपनी जननी की कोई सेवा न कर सका। गङ्गा जो का सेवन किया तो किन्तु विशुद्ध आस्तिक भाव से श्रद्धा संयम पूर्वक नहीं, किन्तु कैसे भी सही वात्सल्यमयी माँ संतानों के अवगुणों को नहीं देखती। वे तो अपने सहज-स्नेह से सन्तानो के मलों को- पापो को-चाट जाती

---

* महर्षि च्यवन राजा नहुप से कह रहे हैं—"हे वीर राजन्! मैं इस संसार में गौओं के समान दूसरा कोई दूसरा धन नहीं देखता। गौओं के नाम गुणों का कीर्तन करना-सुनना, गौओं का दान देना और उनका दर्शन करनाइन सबकी शास्त्रों में बड़ी प्रशसा की गई है, ये समस्त कार्य सम्पूर्ण पापों को दूर करके परम कल्याण देने वाले हैं।"

हैं। गो-माता के प्रति जैसी कि एक हिन्दू को होनी चाहिये वैसे मेरी श्रद्धा स्वाभाविक ही है। आरम्भ से ही मेरे मनमें ऊहापोह होती रहती थी, मैं गो-सेवा करूँ, किन्तु त्याग के मिथ्याभिमान के कारण तथा अन्यान्य कार्यों में जुटे रहने के कारण मैं सक्रिय गो-सेवा का व्रत न ले सका।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भारतीय संस्कृति की रक्षा एकमात्र गो रक्षा पर अवलम्बित है। भारत मे गो रक्षा नहीं होती तो भारत की, भारतीय सस्कृति की, धर्म की तथा हमारे सुख स्वास्थ की रक्षा संभव नहीं। गो और ब्राह्मण भारतीयताके दो प्रतीक हैं, जो इन दो का शत्रु है वह नास्तिक है उससे देश का हित नहीं हो सकता। हमारा देश गो रक्षा गो सेवा के विना जीवित रह नहीं सकता। गौएँ मङ्गलमयी हैं, वे सर्वदेवमयी हैं, लक्ष्मी जी उनके गोबर में निवास करती हैं। गोबर से लिपे घर की कैसी शोभा होती है। उत्सव पर्वों पर पहिले हमारे घर गोबर से लीपे जाते थे, तब न अन्न की कमी थी न दूध की। मेरे ही बालकपनमें तीन चार पैसे सेर सामने दुहा हुआ शुद्ध दूध मिलता था, आज शुद्ध दूध के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। हमने गो सेवा को भुला दिया। हम दूध घी खाना तो चाहते हैं किन्तु गो सेवा करना नहीं चाहते। पहिले एक एक किसान के यहाँ सौ सौ दो दो सौ गौएँ रहती थीं। श्रीमानों के यहाँ सहस्र सहस्र गौएँ थीं। आज न किसान गौ रखते हैं न श्रीमान लोग। मोटर तो १०-१०, २०-२० रख लेंगे, कुत्ते भी पाल लेंगे किन्तु गौएँ नहीं रखेंगे। गो सेवा करना शास्त्रों मे परम धर्म बताया है और कुत्ता पालना निषेध बताया है। आज हम तमोगुण से आवृत होने से अधर्म को ही धर्म मानने लगे हैं। दिल्ली के साप्ताहिक "हिन्दुस्तान" में एक निबन्ध छपा था उसमें बताया है। सौंदर्य प्रतियोगिता में जो संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी मानी जाती

है उसकी एक सेविका है। उसके पास एक कुत्ता है, कहते हैं वह कुत्ता ससार के कुत्तो मे मबसे सुंदर है, उसकी स्वामिनी जो खाती है, वही उसे अपनी थाली में साथ साथ खिलाती है, जो पीती है वही उसे साथ साथ पिलाती है, अपने साथ ही शैया पर सुलाती है और क्षण भर को उसे विलग नहीं करती। कुत्ता इतना सु दर है कि स्त्रियॉ उसका चुम्बन लेने को समुत्सुक रहती हैं। जब चुम्बन लेने वालो की भीड अधिक बढने लगी तो उसने चुम्बन-शुल्क लगा दिया २००) में एक चुम्बन। इस पर सैकडों स्त्री पुरुष चुम्बन लेने खडे हो गये। भीड बढती देखकर उसने शुल्क बढानी आरम्भ कर दी। पॉच सौ, एक सहस्र, दो सहस्र, पॉच सहस्र, दश सहस्र, तीस सहस्र यहाँ तक कि एक चुम्बन के २५ सहस्र उसने कर दिये तो भी कई स्त्रियॉ खड़ी रहीं। जब उसने पचास सहस्र एक चुम्बन के कर दिये। तब भी दो स्त्रियों ने उसका चुम्बन लिया। उसके सम्बन्ध की और भी अनेक बातें बतायी गयीं जैसे बहुत द्रव्य व्यय करके उसका विवाह किया गया, उसकी भावी संतान को क्रय करने के लिये लाखों रुपया अग्रिम दे दिया गया, आदि आदि।

शास्त्र दृष्टि से यह अधर्म है, किन्तु ऐसा ही प्रेम गो माता में हो जाय तो लोक परलोक दोनों ही सुधर सकते हैं। गौ कितनी प्यारी लगती है, गौ दूध, दही, घृत, मक्खन, मठा तथा तक्र, छेंना आदि देती है। उसकी खाद सर्वोत्तम मानी जाती है। उसके गोबर मूत्र आदि से अनेकों औषधिया बनती हैं अनेक रोग नाश होते हैं। मरने पर, उसका चर्म, अस्थि, शृंग, तथा अन्यान्य अवयव काम में आते हैं। बहुत उपयोगी पशु है इसलिये उसका पालन करना चाहिये। इस भावना से गौ रखने को गो प्रेम नहीं कहते। ये वस्तुएं तो आनुसंगिक हैं। यथार्थ में तो गौ हमारी माता है, सर्व-देव मयी है, तीर्थ रूपा है, समस्त देवगण उसके रोम रोम में निवास

करते हैं, उसकी सेवा से हमारे लोक परलोक दोनों ही सुधरेंगे। गौ रखने से आर्थिक हानि भी नहीं अपितु लाभ ही है। उसके दूध, उसके बच्चो और खाद का मूल्य जोड़ा जाय तो वह हमें सदा सर्वदा कुछ न कुछ देती ही रहती है, किन्तु इस बात को सिद्ध करना मेरा विषय नहीं। इस पर तो कोई अर्थशास्त्री प्रकाश डालेंगे। मेरा बताने का अभिप्राय तो यही है, कि हमारा हित गौ रक्षा में गौ भक्ति मे है। जिसने गौं सेवा करली उसने अपना लोक परलोक दोनों ही बना लिये।

गौ सेवा एक तप है, जब तक हम गौ को सन्तान की भाँति मानकर पालन न करेंगे तब तक उसका नाम गौ भक्ति नहीं। मनुष्य झंझट से डरते हैं, इसलिए कह देते हैं, कौन गौ पालने के झंझट मे पडे। दो रुपये फेके दो सेर दूध ले लिया। रात दिन खट-पट से बचे। एक कहावत भी है—"गाय न बाछी, नींद आवे आछी" वास्तव मे जैसे माता दिन रात अपने बच्चे की चिन्ता रखती है, रात मे मलमूत्र करने पर उठकर उसे साफ करती है, रोने पर उसे चुप करती है, ऐसे ही गौ की चिन्ता करनी पडती है, तभी गौ कामधेनु बनती है, फिर वह घर मे अष्ट सिद्धि नवनिधि उत्पन्न करती है। मुझे ऐसा एक भी घर नहीं मिला जहाँ गौ सेवा होती हो और उस घर में कभी किसी बात की कमी रही हो। भारतवर्ष के दो सर्वश्रेष्ठ व्यापारियों को मैं जानता हूँ, उनके घर की स्त्रियाँ बडे प्रेम से गौसेवा करती हैं, उनका घर दूध और पूतो से भरा पूरा है। एक माता मुझे बताती थी उनके श्वसुर ने तीन गौएँ कसाइयों से छुडाकर अपने घर मे रखा। उनमे से एक गौ ११-१२ बार व्याई। अब उनके यहाँ ३०-४० गौएँ हैं। वे भारत के सर्वश्रेष्ट व्यापारी हैं वे लोग दूधों नहाते हैं, पूतो फल रहे हैं।

गौ सेवा पहिले तो झंझट सी लगती है, किन्तु जब सेवा करते करते उसमे रस आने लगता है, तो उसके बिना रहा ही नहीं

जाता गौओं की कृपा होने पर घर में श्री लक्ष्मी, कान्ति का निवास स्वतः होने लगता है, तभी तो हमारे यहाँ गौ की इतनी महिमा है कोई भी संस्कार, कोई भी शुभ कार्य गौदान के बिना सम्पन्न नहीं होता। पुत्र जन्म से लेकर मृत संस्कार चितारोहण तक सभी कार्यों मे गौदान आवश्यक है।

गौएँ जहाँ पूजित होकर रहती हैं, वहाँ स्वतः ही अपने वंश को बढाती हैं। पहिले मैं हंसतीर्थ मे अकेला ही वटके नीचे रहता था। उन दिनों मैं भी अहीर से दूध मंगाकर भगवत् सेवा मे काम लाता था। आठ नौ वर्ष से इस आश्रम मे आया। आजसे ६ वर्ष पूर्व एक व्यक्ति हमें ४ गोएँ दे रहे थे, किन्तु इस भय से हमने उन्हें स्वीकार नहीं किया कि इनकी सेवा कौन करेगा। इस के एक डेढ वर्ष के अनन्तर ही मुझे रामलीला के सम्बन्ध में जेल जाना पडा। जेल मे मुझे प्रथम श्रेणी (ए० क्लास) में रखा गया और दो परिचारक मुझे दिये गये। एक तो झाडू बुहारू ऊपर का काम करता था, एक फलाहार बनाता था। जो मुझे रसोई बनाने को ब्राह्मण मिला वह प्रयाग प्रान्त का हँडिया के आस पास का पुरोहित पंडित था, मैंने उससे पूछा—"भाई, तुम क्यों जेल मे आये ?"

उसने बताया—"हमारे पास एक बडी सुन्दर गौ थी, वहाँ के थानेदार ने उसे हमसे माँगा। हमने उसे देना स्वीकार नहीं किया। हमारी गौ का नाम गगा था, बडी सीधी। इस पर दारोगा ने कुपित होकर एक फौजदारी के अभियोग मे हम सब भाइयों को जेल भेज दिया। न जाने अब वह हमारी गौ कहाँ होगी।" यह कहते कहते वह अत्यन्त उदास हो गया। मैंने उससे कहा—"तुम्हारी गौ जहाँ भी कहीं जीवित होगी उसे मैं मँगाकर आश्रम मे रखूँगा।"

महामना मालवीय जी के उद्योग से मेरे ऊपर का अभियोग उठा लिया गया और मुझे कारावास से मुक्त कर दिया गया।

गौ माता की कृपा से मेरे छूटने के कुछ ही दिन पश्चात् वे सब भाई भी आधी अवधिमें मुक्त कर दिये गये। कारावास से आते ही मैंने गंगा की खोज करायी। वह एक के पश्चात् दूसरे पर दूसरे के पश्चात् तीसरे पर गयी। बहुत खोज करने के पश्चात् प्रतागढ़ के आस पास उसका पता चला। उस पंडित के पिता ने बताया-गंगा की दशा इस समय बड़ी दयनीय है, उसे खाने को कुछ नहीं मिलता। थोड़ा सा धान का सूखा पुआल खाकर वह रहती है।

मैंने कहा—"वह जैसी भी दशा में हो उसे ले आओ। वह जितने माँगे उतने दाम दे आओ।"

ऐसा ही किया गया, गौ आश्रम में आ गायी। सभी कहने लगे—महाराज! इस बूढ़ी गौ से क्या लाभ? गौ लेते तो कोई दूध की लेते। यह तो ग्याभन भी नहीं हो सकती। इसकी गर्भ धारण शक्ति भूख के कारण नष्ट हो गयी है और फिर बूढ़ी भी बहुत है।" मैंने कहा—"भाई! हमने दूध के लिये गौ नहीं मँगायी है यह तो सेवा के लिये मँगायी है। दूध न दे न सही।"

वास्तव में गंगा बड़ी दुर्बल हो गयी थी, एक दिन वह गिर पड़ी कई मनुष्यों ने उसे बड़ी कठिनायी से उठाया। भर पेट भोजन मिलने से शनैः शनैः उसकी दशा में सुधार होने लगा। और और दो चार महीने पश्चात् वह ग्याभन हो गयी। उसने बच्चा दिया और दूध भी। दूध तो वह न दे सकी किन्तु अब तक वह ६ बार ब्याय चुकी है। उसका एक बच्चा बड़ा भारी साँड़ है। अब वह बूढ़ी हो गयी है और आश्रम मे विद्यमान है। उसने आश्रम मे जब से पदार्पण किया तब से गौ शाला शनैः शनैः गौओं से भरने लगी। अब आश्रम में छोटी बड़ी ४०-५० गौएँ होगयी। और अब तो एक सौ आठ और भी आने वाली हैं। मैं तो इसे अपनी गंगा का ही पुण्य प्रताप समझता हूँ।

भारत का मुख्य धन तो गो धन है। गौ हमारे जीवन मरण की समस्या है, कृषि प्रधान भारत भूमि का सजीव स्वरूप गौ ही

हैं। संसार में जब जब भी विपत्तियाँ पडी है, अधम की वृद्धि हुई है तब तब पृथिवी गौ का ही रूप रखकर देवताओं के साथ भगवान् की शरण मे गयी है। गौ सेवा से समस्त रोगों का नाश भी होता है। उदर के बहुत से विकार नित्य गो मूत्र पान से नष्ट होते हैं। मैंने वर्षों नित्य नियम से पंचगव्य (दूध, दही घृत, गो मूत्र और गोबर) का पान किया है और उससे लाभ लिया है। आज जो स्त्री पुरुषो में इतने अधिक रोग बढ़ गये हैं, इनका प्रधान कारण गौ सेवा न करना ही है। गौ सेवा न करेंगे तो शुद्ध दूध, दही, घृत तथा अन्य दूध की बनी वस्तुएँ न मिलेंगी। जमा तैल तथा अन्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष विष के समान हैं। आप देखेंगे इन्हें खाने से चौथी पाँचवी पीढ़ी अंधी तथा नपुंसक पैदा होगी। आँखो की ज्योति के लिये ये बना बनावटी दूध, दही घृत विष का काम करते हैं। पहिले घर घर मे गौ रहने से छोटी बडी सभी घर की स्त्रियाँ परिश्रम करती थीं। प्रातःकाल उठते ही गौ को सानी देना, गोबर मूत्र साफ करना गौ दुहना, दही बिलौना तथा अन्यान्य कार्य करते रहने से स्वास्थ्य सुंदर होता था। अब ये काम न करने से दिन भर बैठे रहने से या तो उनकी चर्बी बढ़ जाती है मोटी हो जाती हैं या सदा अपच, अरुचि, अजीर्ण तथा अन्यान्य रोगो से ग्रसित रहती हैं। गाँवो की अपेक्षा नगर की स्त्रियाँ अधिक रोगिनी रहती हैं, उनमें भी कुछ भी काम न करने वाली धनिको तथा श्रीमानों की स्त्रियाँ तो सदा रुग्ण ही बनी रहती हैं। बहुतों की गर्भ धारण की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। यदि वे श्रद्धा सहित नित्य नियम से गौ सेवा करें और फिर उनका रोग दूर न हो तो आप जो काले चोर को दंड देते हों वह मुझे दें। सुकुमार स्त्रियो के लिये गौ सेवा से बढ कर कोई सरल, सुगम, सरस,शास्त्र सम्मत, स्वास्थ्यकर साधन नहीं। इस सम्बन्ध की एक कहानी मुझे याद आ गयी।

एक इंजिनियर थे, उनका विवाह एक लखपती की लडकी से हो गया। लड़की बडी लाड प्यार में पली हुई अत्यंत सुकुमारी थीं।

बाप के घर मे उसने अपने हाथ से पानी का पात्र भी नहीं उठाया था वही बात उसने यहाँ की। सदा पलंग पर पडी नौकरों से कहती रहती थी, यह करो वह करो। नित्य डाक्टर आते। प्रत्येक महीने में २००) २५०) औषध के देने पडते। इन्जिनियर को ४००) ५००) मिलते थे। ये उत्कोच (घूँस) आदि भी नहीं लेते थे कुछ धार्मिक विचार के थे। स्त्री को कुछ रोग तो था नहीं। रोग का भ्रम था। डाक्टर उसे ओषधि पर ओषधि देकर पका रोग कर रहे थे। रोग से बढकर रोग का भ्रम होता है। ऐसे रोगी का स्वभाव चिड-चिडा हो जाता है, उसे सदा यह अनुभव होता रहता है, कि मेरी कोई परवाह नहीं करता। इससे गार्हस्थ्य जीवन दुःखमय बन जाता है। पुरुष यही आशा रखता है कि वह बाहर से काम काज करके क्लान्त हुआ आवे तो घर में घर वाली मंद मुस्कान के साथ उसका अभिनन्दन करे। उसके दुख सुख की बात पूछे, स्वयं जलपान करावे, दो मीठी बातें करें। इससे उसका दिन भर का श्रम मिट कर पुनः नवजीवन का संचार होता है। श्रम मिटाने, चित्त बह-लाने और हृदय को प्रफुल्लित तथा प्रमुदित बनाने को गृहस्थी की सबसे अमूल्य निधि बच्चे हैं। फूल से हँसते हुए बच्चे अपनी तोतली बोली में बाबूजी बाबूजी कह कर शरीर से लिपट जाते हैं, तो वह सुख तो स्वर्ग से भी एक हाथ ऊँचा उठ जाता है, क्योंकि स्वर्ग में मंद मुस्काने वाली प्रमदायें तो होती हैं, किन्तु तोतली बोली बोलने वाले बालकों का वहाँ अभाव है। यह सब न होकर गृहस्थी पुरुष काम काज करके घर आया और आते ही उसे घर वाली की डाट डपट सहनी पडी कि तुम अमुक ओषधि नहीं लाये उससे मेरे रोगके लिये बर्फ़ी पूडा, तो उसमें और नारकीय यातनाओं में अतर ही क्या ?

इञ्जीनियर की स्त्री अपने को सदा रोगिनी अनुभव करने के कारण चिडचिडी तो बन ही गयी थी, उसे अपनी कुलीनता, सुन्दरता, सुकुमारता का अभिमान भी था। मेद बढने से बाल बच्चे

तो उसके होने ही क्या थे। इन्हीं सब कारणों से इंजि-
नियर दुखी रहते।

उनके एक डाक्टर मित्र थे। बडे लोगों के डाक्टर प्रायः मित्र होते नहीं। "गौ घास से मित्रता करे तो उसका पेट कैसे भरे" किन्तु वे डाक्टर इसका अपवाद थे या यों कहो वे उनके गृह चिकित्सक नहीं थे मित्र थे। इन्जिनियर से छोटे थे अतः वे उनकी पत्नी को भाभी कहते थे। वह उन्हें बहुत विवश करती तो ओषधि तो दे देते, किन्तु उसका मूल्य नहीं लेते। पैसे वाली को अमूल्य ओषधि कैसी भी गुणकारी दे दो उनको उस पर विश्वास ही नहीं होता और गुरु ,मंत्र, ओषधि तथा देवता ये विश्वास से ही फलीभूत होते हैं। इसी कारण वे चिकित्सा भी दूसरे डाक्टरों से करातीं और ओषधि भी अन्यत्र से मँगातीं।

इन्जिनियर सदा दुखी चिन्तित रहते। डाक्टर ने कहा—भाई साहब! आप इतने चिंतित क्यों रहते हैं?"

इन्जिनियर बोला—'यार, क्या बतावें। मेरे घर वाले नहीं माने, लखपती के लालच मे आ गये। मैं तो किसी अनपढ़ गाँवकी लडकी से विवाह करता तो सुखी रहता। बाहर कार्यालय का काम करूँ, घर मे पैर रखते ही इसकी झिडकी सहूँ। नियमित आय है उसी से काम चलाना। आधी तो पत्नी की ओषधि में ही चली जाती हैं, कभी कभी इच्छा होती है आत्महत्या करलूँ।"

हँस कर डाक्टर ने कहा—"मुझसे चिकित्सा कराओ भाभी की,'हर्रा लगे न फिटिकिरी रँग चोखा ही आवे। बिना पैसे इलाज करूँगा भाई साहब!"

इन्जिनियर ने कहा—"अरे भाई, तो चाहे जो लेले। मुझे इस विपत्ति से छुडादे तो जीवनभर तेरा ऋणी बनूँगा।"

डाक्टर बोले—भाभी से गौसेवा कराओ सब रोग शोक दूर हो जायँगे।"

निराशा के स्वर मे इन्जिनियर ने कहा—"न नौ मन का-

जर होगा न राधा नाचेगी। तू गौ सेवा की ही कह रहा है अपने हाथ से पानी का गिलासतो उठाती ही नहीं, गौ-सेवा कैसे करेगी

डाक्टर ने कहा— 'मैं कराऊँगा।"

इन्जिनियर ने कहा—"करा चुक यहाँ वह गुड नहीं जिसे चींटे खा जायँ बड़े बाप की बेटी है।'

डाक्टर ने कहा—"मैं भा बड़े गुरु का चेला हूँ। भाभी से गौ सेवा न करायी तो डाक्टरी करना छोड़ दूँगा किन्तु आप को मेरे संकेतों के अनुसार नाचना होगा।"

इन्जिनियर ने आवेश के साथ कहा—"तू कहेगा उतने ही घूँट पानी पीऊँगा। बोल क्या कराना चाहता है।"

डाक्टर ने कहा—"आप कल बीमार बन जायँ।"

हँसकर इन्जिनियर ने कहा—"यह अच्छी रही, बिना बीमारी के बीमार कैसे बनूँ, कोई सुई दे दे कि मुझे ज्वर आ जाय।"

डाक्टर ने कहा—"सुइ की आवश्यकता नहीं, आप खाट पर पड़ जाओ फिर मैं सब कर लूँगा।"

इन्जिनियर ने ऐसा ही किया खाट पर पड गये आह आह चिल्लाने लगे। पत्नी ने तुरन्त नौकर से मित्र डाक्टर को बुलाया। डाक्टर अपना कर्ण यन्त्र लेकर आये। कान मे लगा कर कई बार उसे देखा और निराश से हो कर सुस्त पड़ गये, यन्त्र पटक दिया।

इन्जिनियर की पत्नी का हृदय धक् धक् करने लगा, उसने पूछा—क्या बात है लल्ला!

डाक्टर ने निराशा के स्वर मे कहा—कुछ नहीं भाभी।

स्त्री का संदेह और बढा उसने कहा—"डाक्टर तुम्हें मेरी शपथ है मुझ से छिपाओ मत, मुझे सब बात बतादो।"

डाक्टर बोला—"भाभी! बताने योग्य बात नहीं। भाई साहब के बचने की कोई आशा नहीं, मुझे आश्चर्य है यह सहसा इन्हें इतनी भारी हृदय की बीमारी कैसे हो गयी।"

भारतीय महिलायें और चाहें जो करलें वे अपने पति की

मृत्यु की बात नहीं सहन कर सकती। इतना सुनते ही वह ढाह मारकर रोने लगी। डाक्टर के पैरों में पड गयी। डाक्टर, मैं तुम्हारे पैरो पडता हूँ, मेरे सुहाग को बचालो मेरे माँग के सिंदूर को बनाये रखो।

डाक्टर और भी गंभीर हो गया, बोला—"भाभी! मैं शक्ति भर कुछ उठा न रक्खूँगा। किन्तु इसमें बडा परिश्रम पडेगा।"

यह सुनते ही वह दौडी गयी। अपने आभूषणों के पिटारे को उठा लाया बोली-य कई लाख के हैं मैं इनका क्या करूगी। आप और इन्हें बेचकर बडी से बडी चिकित्सा करें।

डाक्टर हँसा नहीं। उसने गंभीरता से कहा—भाभी! इनकी आवश्यकता नहीं! इन्हें दोनों समय तुरत का निकाला मक्खन चाहिये, उसमें मैं औषधि दिया करूगा।

स्त्री ने कहा—यह कौन सी बडी बात हैं, अभी गौ मँगा लो। डाक्टर की योजना तो पहिले से बनी थी। गौ आई साथ मे नौकर भी आया। डाक्टर ने तिकडम से नौकर को भगा दिया। फिर ताजे आटे का रोटी बतायी। पीसने वाली आयी दो चार दिन में डाक्टर ने उसे भी चुपके से खिसका दिया। बेचारी पति के जीवन के लोभ से प्रातः से साय काल तक गो सेवा करती उसे खिलाती पिलाती दूहती दो बार दूध चलाती। इजिनियर ने तीन महीने की छुट्टी ली। ताजा मक्खन हाथ के पिसे आटे की रोटी और फिर पत्नी के हाथ की सेवा के कारण अगूर की भाँति लाल पड गये। स्त्री अपने रोग को भूल गयी। ६ महीने यह क्रम चला सब को आश्चर्य हुआ। इजिनियर की पत्नी ने गर्भ धारण किया। इजिनियर अच्छे हो गये पत्नी को गौ सेवा का चस्का लग गया, वह उसका सबसे प्यारा दैनिक कृत्य हुआ। पुत्र होने पर डाक्टर ने रहस्य का उद्घाटन कर दिया। तब उसने कहा—"हाय! डाक्टर, तुम बडे शरारत आदमी हो मुझे इतने दिन तुमने भ्रम मे क्यों रखा ?"

हँस कर डाक्टर ने कहा—भाभी, भ्रम में न रखता तो भाई साहब अंगूर की भाँति लाल कैसे होते। तुम निरोग कैसे बनती यह प्यारा प्यारा मुन्ना कैसे होता और सबसे बड़ी बात तुम्हें गो सेवा से अनुराग कैसे होता।"

इंजिनियर पत्नी की कृतज्ञता से आँखे झुक गयीं। उसने जीवन भर डाक्टर का आभार माना। उनके कई संतानें हुईं और नौकर छोडने पर भी उनका घर एक गोशाला ही बना रहा। ऐसी एक नहीं अनेक घटनायें हैं, स्थलसंकोच से उन सब को मैं लिख नहीं सकता। आप कहते हैं – सरकार गौ वध बन्द नहीं करती। सरकार तो गौ वध बन्द करेगी और नाक रगडेगी। कोई सरकार ऐसी नहीं जो जनता की यथाथ इच्छा के बिना एक दिन भी सुचारु रूप से चल सके। हम में गौ प्रेम की कमी है। गोप्रेम होगा। गौ सेवा व्रत से मेरा विचार इस चातुर्मास्य मे देवशयनी एकादशी से देवोत्थानी एकादशी तक (२२ जुलाई से २१ नम्बर तक) गो सेवा व्रत करने का है। इसमें गौ के बीच मे ही रहकर गव्य या गौ को जौ खिला कर उसके गोबर से निकले दानो को खा कर स्वयं सेवा करके गोव्रत करने का है। मैं इस व्रत के लिये अपने प्रेमी पाठको को आह्वान करता हूँ। जो यहाँ न आ सकें वे अपने घर पर ही व्रत करें। इससे धनार्थी को धन पुत्रार्थी को पुत्र, रोगी को रोग से मुक्ति और जिज्ञासुको ज्ञान प्राप्ति हो सकती है। मेरे वचनों पर विश्वास करके श्रद्धा पूर्वक आप परीक्षा के रूप में चार महीने करके देखें। न कुछ लाभ हो आप छोड दें चार मीहने बीमार ही रहे। किन्तु कुछ लाभ न हो यह असभव है। गोव्रत से लाभ होगा, होगा, अवश्य होगा। आइये गोव्रत में दीक्षित होइये और भारत से पूर्ण गौवध बन्द कराइये। आज इतना ही, शेष फिर।

सकीर्तन भवन, झूसी, प्रयाग ज्येष्ठ सुदी १–२०१०	गौव्रती बनने को समुत्सुक प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

भक्तिकी महती महिमा

(१२६३)

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥*
(श्रीभा० ११स्क० १४अ० १८श्लो०)

छप्पय

पाप पहाडनि भक्ति जरावै उद्धव मेरी ।
तू चिन्ता मति करे परम निरमल मति तेरी ॥
योग, सांख्य, जप, दान, धर्मतें ही रीझूँ नहिँ ।
भक्ति मार्ग ही श्रेष्ठ जाहि कामी नहिँ समुझहिँ ॥
धर्म सत्य अरु दया युत, तप भावित विद्या विमल ।
पूर्ण पवित्र न करि सकें, भक्तिहीन नरकूँ सकल ॥

प्राणियोंका संसारी विषयोंमें फँस जाना यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। विषयोंकी ओर तो स्वाभाविक झुकाव है ही। आश्चर्य तो इस बातका है कि विषयोंके रहते हुए भी बहुतसे उनसे पृथक् हो जाते हैं। भक्तिमार्ग ऐसा अक्षय मार्ग है कि इसके

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! विषयों से बाधित होनेपर भी मेरा अजितेन्द्रिय भक्त प्रायः प्रौढाभक्तिके प्रभावसे उन विषयोंके वशीभूत नहीं होता, उनसे निकल जाता है।"

लिये किया हुआ स्वल्प अल्प प्रयास भी अक्षय हो जाता है। यह बात कर्मकाण्ड आदिमें नहीं है। आपने विपुल धन लगाकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें कोई विधि विधानकी त्रुटि रह गयी, तो यही नहीं कि उसका फल शुद्ध न होगा, उतना धन नष्ट होनेसे ही काम चल जाय, अपितु, उसका विपरीत फल होगा। विधि हीन यज्ञ करनेसे उसका करनेवाला शीघ्र नष्ट हो जाता है, उसका विपरीत फल हो जाता है। भक्ति मार्ग में जहाँ तक पहुँच कर पतित होंगे, वहाँ तक की आपकी कमाई सुरक्षित रहेगी। कर्मकाण्ड आदि द्यूत व्यापार हैं कि पासा सीधा पड गया, तो जितना धन दाँव पर लगाया है उसका कई गुना तुरन्त मिल जायगा और पाशा पलट गया, तो अपने पास जितनी पूँजी थी वह भी गयी और कारावासका दंड ऊपरसे मिला। भक्तिमार्ग ऐसा व्यापार है कि जितना द्रव्य तुमने प्राप्त कर लिया वह तो ऐसे संचित कोषमें जमा हो जाता है कि उसे आप व्यापार करना भी चाहें तो व्यय नहीं हो सकता। बीचमें ही दिवाला निकल जाय, तो जितना धन कमाया है उसपर आँच भी न आवेगी, वह तभी काम आवेगा जब आप फिरसे व्यापार आरम्भ करेंगे। इसीलिये भक्तिमार्ग में चलते चलते यदि साधकका पतन हो जाय, तो क्या कहीं भी उसका अमङ्गल हो सकता है? अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता।

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्से अजितेन्द्रिय भक्तोंके सम्बन्धमें पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! ये विषयजन्य ऊर्मियाँ प्रायः सभी प्राणियोंके मनमें उठती रहती हैं। जिन भक्तोंने मेरी भक्तिके प्रभावसे इनपर विजय प्राप्त कर ली है, उनका विषय कुछ भी नहीं बिगाड सकते। उसका समस्त आकर्षण तो मेरी ओर हो जाता है। उनका मन मेरे ही सम्बन्धमें सोचता रहता है। जैसे एक हउदंड पशु है, खुला छोड दिया है, व जिस खेतको भी हराभरा

देखता है, उसीमें घुस जाता है, कुछ खाता है, कुछ बिगाड़ता है, फिर दूसरा दिखायी दिया उसमे घुस गया। किसीका भोजन रखा है, उसीमें मुँह मार दिया। उसका सयम नहीं नियम नहीं, तृप्ति नहीं, उसके कठमे एक रस्सी डालकर खूँटे से बाँध दो, तो उसका उछलना कूदना दूसरे खेतोंकी ओर दौड़ना सब समाप्त हो जायगा, उस खूँटेके ही चारों ओर चक्कर लगाता रहेगा। स्वामी जो दे देगा, उसे तो खालेगा, अपनी ओरसे कुछ भी उपद्रव न करेगा। इसीप्रकार जो पुरुप पशु स्वच्छन्द अमर्यादित घूमते हैं उनका चित्त नित्य नूतन नूतन विषयकी चाहना करता रहता है, किन्तु जिनके चित्तको सद्गुरुने प्रेमकी रज्जुसे श्रीकृष्ण चरणोंमे बाँध दिया है, उनका चित्त चितचोरके चारों ओर चक्कर काटता रहेगा, विषयोंमें कभी जायगा ही नहीं।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! कदाचित रस्सी तोड कर चला जाय तो?"

भगवान्ने कहा—"भैया! कभी भूलसे चला भी जाय, तो वह अधिक दिन उच्छृङ्खल नहीं हो सकता। उसके कण्ठकी रज्जुको देखते ही कोई दयालु पुनः उसे पकडकर बाँध देगा, रस्सीको देखते ही समझ जायगा कि यह उच्छृङ्खल प्रकृतिका पशु नहीं है। भूलसे इसका बन्धन खुल गया है, वह उसे उसके स्थानपर पुनः पहुँचा देगा, पुन· उसे अपनी पूर्वकी पदवी प्राप्त हो जायगी। इसी प्रकार किसीने मेरी भक्तिकी। उसे भक्तिमें कुछ रस भी आने लगा। किन्तु इन्द्रियों को भली भाँति न जीतनेके कारण विषय सम्मुख आगये, वह विषयोंसे बाधित हो गया तो यह नहीं कि फिर उसका सर्वथा पतन ही हो जाय। अपनी प्रौढा भक्तिके कारण वह कभी न कभी लौट कर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है। वह सर्वथा विषयोंके वशीभूत नहीं हो जाता। इस विषयमें एक नहीं अनेक दृष्टान्त हैं।

महा भागवत प्रियव्रत राजाको प्रथम नारदजीके सत्सङ्ग से भक्तिकी प्राप्ति हो चुकी थी। नारदजी राजा प्रियव्रतको भक्तिका उपदेश दे रहे थे, कि ब्रह्माजी और स्वायम्भुव मनुने आकर उसमें विघ्न कर दिया। प्रियव्रतसे राज्य ग्रहण करनेको कहा। और कोई होता तो नारदजी कुछ कहते भी जब उनके पिता लोकपितामह ब्रह्मा ही आज्ञा दे रहे हैं, तो क्या करते। ब्रह्माजीकी आज्ञा मान कर प्रियव्रतने गृहस्थमें प्रवेश किया। विवाह किया बच्चे पैदा किये स्त्रीमें अत्यंत आसक्त हो गये, कुछ दिन पश्चात् जो भक्तिका पाठ उन्होंने नारदजीसे पढा था, वह याद आया, उन्होंने अपने को धिक्कारा विषयोंके वशीभूत होजानेके कारण अपनी निंदा की। तत्काल सम्पूर्ण राज्य वैभवको त्याग कर हृदयमें वैराग्य धारण करके भगवान्‌की लीलाओंका चिन्तन करते हुए, देवर्षि भगवान् नारदके बताये हुए मार्गका फिरसे अनुसरण करने लगे। उन्होंने जो भी कुछ सीखा था, वह भूला नहीं। वही उन्हें विषयोंसे खींच ले गया।

इसी प्रकार राजर्षि भरतको वनमें भगवद्‌भक्ति प्राप्त हो गयी थी। बीचमें हरिणमें उनका मन चला गया, वे हरिण हुए, किन्तु प्रथम की हुई भक्तिने उनका परित्याग नहीं किया, इसीलिये हरिण शरीर में भी वे निस्संग होकर भजन करते रहे और गडकी में खडे होकर " नारायणाय नमः " यह कहते हुए शरीर त्यागा।

ऐसे अनेकों भक्त हुए हैं कि भक्ति करते करते उनका मन किसी कामिनीके रूपमें फँस गया है, किन्तु जब उनको स्मरण आया, तब सब छोड छाड कर भगवद् चिन्तनमें लग गये। अजामिल पहिले बडा सदाचारी मातृ पितृ भक्त तथा भगवान्‌की उपासना करने वाला था, प्रारब्ध वशात् उसका मन वेश्याके रूपमें फँस गया। यमदूत और विष्णुदूतोंके सम्वादको सुनकर उसे चेतना हुई, पश्चात्ताप हुआ, फिर साधन भजनमें लग गया।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! ये संसारी पाप क्या तुच्छ वस्तु हैं। एक नहीं चाहें सहस्रों ब्रह्महत्यायें क्यों न की हों, बडेसे बडा पाप क्यों न किया हो, जहाँ भगवान्की भक्ति उदय हुई तहाँ वह अनन्त पाप राशियोंको उसी प्रकार नष्ट कर देती है,जैसे अग्नि की छोटी-सी चिनगारी असंख्यों रुईकी गाठोंको जलाकर भस्म कर देती है। चिन्ता करनेकी बात कौन सी है। यह क्षुद्र प्राणी भरपेट पाप भी तो नहीं कर सकता। हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष, रावण, कुंभकरण, कंस, दंतवक्र इन्होने कितने कितने पाप किये कितनी कन्याओं का सतीत्व नष्ट किया, कितने निरपराध ऋषि मुनियोंका वध किया। रावणने यह सब किया तो भी भगवान् उसे क्षमा करते रहे। उसकी दुष्टता पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, वह काम भावसे जगज्जननीको हर ले गया। ९ - १० महीने अपने नगरमें रखा। फिर भी क्षमाकी मूर्ति भगवान् उससे प्यार ही करना चाहते हैं। अंगदके द्वारा संदेश भिजवाते हैं। क्यों द्वेष रखते हो भैया ! आजाओ जानकी मुझे दे दो मुझसे सन्धि कर लो। मुझसे प्यार करना यह अच्छा साधन है सरस है।"

किन्तु वह तो राक्षस था। उसने कहा मैं प्यार न करूँगा, प्यार करना मेरी प्रकृतिके विरुद्ध है। वैर करूँगा, वैर। तुम्हे जो करना हो कर लो। देखें तुम्हारी क्षमाका क्या उपयोग होता है।"

भगवान् हँसे और बोले—"कोई बात नहीं वैर भी अच्छा है। मुझसे चाहें वैर करो या प्यार मेरे पास मुक्ति तो भरी पडी है। प्यार करते तो भक्ति देता, अब वैर करोगे, मुक्ति दूँगा।

उद्धव ! यही मेरी भगवत्ता है। मुझसे सम्बन्ध हो जाना चाहिये। फिर पाप तो रह ही नहीं सकते। मेरी भक्तिरूपी अग्नि मे बड़ेसे बडे शुष्क आर्द्र पाप जल कर भस्म हो जाते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन् ! आपको प्राप्त करानेके भक्तिके अतिरिक्त और भी तो साधन हैं। योगीजन कहते हैं कि योगके ही

द्वारा आपकी प्राप्ति होती है। सांख्यवाले कहते हैं, जो स्थान योग से प्राप्त होता है वही सांख्यसे भी प्राप्त होता है, जो सांख्य और योगको एक ही मानता है वही पंडित है। स्मृतिकारोंका कथन है कि धर्म ही कल्याण का मूल है, जहाँ धर्म है वहीं विजय है। कुछ लोगोंका कथन है कि जपसे ही सिद्धि होती है। उन अमूर्त भगवान्‌की मंत्र ही मूर्ति है। मंत्रोंको पुनः पुनः शुद्ध उच्चारणसे प्राणी पवित्र बन जाता है, कुछ लोगोंका कहना है कि तपस्यासे ऐसे कौन कार्य हैं जो सिद्ध न हो। तप ही सबका मूल कारण है। किन्हींका मत है, सर्वस्व दान करने से ही प्रभु प्राप्त होते हैं, इनमें से कौन सा साधन सर्वश्रेष्ठ है? यह सुन कर भगवान् बोले—"उद्धव! सांख्य, योग धर्म, जप, तप तथा दान आदि सभी साधन हैं सभी श्रेष्ठ हैं, सभी किसी न किसी प्रकार मुझ तक पहुँचाते हैं, किन्तु जिस प्रकार मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे प्राप्त कराती है, उतने ये अन्य साधन नहीं करा सकते, अतः मेरे मतमें निष्काम अहैतुकी भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! आप तो परम शुद्ध है आपकी भक्ति करनेके लिये परम पवित्र विशुद्ध अन्तःकरण चाहिये। आप महान् से भी महान् हैं, आपकी भक्ति प्राप्त करनेको महत्ता चाहिये। आप श्रेष्ठतम हैं, अतः आपकी भक्तिके लिये श्रेष्ठता भी चाहिये, फिर हम साधारण लोग आपको कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! मैं दूर नहीं हूँ मैं भयावना भी नहीं हूँ। मैं तो प्राणीमात्रका सुहृद् हूँ सच्चा सम्बन्धी हूँ, साधुओं-की प्रिय आत्मा हूँ। मुझे प्राप्त करनेके और भी अनेकों उपाय हैं। किन्तु वे कठिन उपाय हैं। ज्ञानका पथ कृपाणकी धारके सदृश है। सबसे सरल सुलभमार्ग तो भक्ति ही है। भक्ति भी कई प्रकारकी है, लोग द्वेषसे, कामसे, क्रोधसे तथा ईर्ष्या आदिसे मुझ

में भक्ति करते है, इन सबका भी कल्याण होता है, किन्तु सर्वोत्तम भक्ति श्रद्धासम्पन्न भक्ति ही बतायी गयी है, प्रेमरूपा भक्तिसे मैं भक्तके अधीन हो जाता हूँ, उसके पीछे पीछे फिरता रहता हूँ। मेरी भक्तिके लिये कुलकी, सदाचारकी, जाति तथा वर्णकी श्रेष्ठता ही चाहिये, यह आवश्यक नहीं। यदि चांडालके हृदयमें भी मेरी भक्ति उत्पन्न हो जाय, तो जातीय दोषसे मुक्त करके भक्ति महारानी उसे पावन बना देती है, भक्तिके कारण वह सबका पूजनीय बन जाता है। और चाहे कोई साधन मत करो, किसी प्रकार हृदयमें मेरी भक्ति उत्पन्न हो जाय, तो वह मनके समस्त मैलको धो देगी, हृदयकी कीचको धोकर बहाकर स्वच्छ कर देगी। अन्तःकरणकी समस्त कुत्सित वृत्तियोंको नष्ट कर देगी केवल भक्तिसे ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। मेरे भक्तको कुछ भी करना नहीं पड़ता। वह तो अपनी विशुद्ध भक्तिके द्वारा ही कुलको, देशको यहाँ तक कि त्रिभुवनको पावन बनानेमें समर्थ हो सकता है। इसलिये भक्तिपथके पथिकको अपनी पतितावस्था की ओर ध्यान न देना चाहिये। भक्तिमार्गकी ओर बढ़ना चाहिये।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! कैसे बढ़ें क्या करें?"

भगवान् बोले—"पहिले तो भक्तिमार्गके पथिक को मेरी स्मृतिमें रोना चाहिये। जैसे अत्यन्त शीतसे घृत पत्थरके सदृश जम जाता है, वह हाथसे नहीं निकलता उसे अग्निके सम्मुख ले जाकर पिघलाया जाता है, उसी प्रकार विषय वासनाओंके संसर्ग से अति कोमल हृदय वज्रके समान अश्मसारके सदृश-कठोर हो गया है, इसे किसी प्रकार पिघलाया जाय।"

उद्धवजीने कहा—"इसके पिघलनेके चिन्ह क्या हैं भगवन्?"

भगवान् बोले—"इसका प्रधान चिन्ह तो यह है, कि भगवान् का नाम लेते ही, उनकी कारुणिक लीलाओंको सुनते ही नेत्र

बहने लगे। आँखोंसे झरझर अश्रु धारा बहने लगे। कुछ धूर्त लोग बनावटी अश्रु भी निकाल लेते है, किन्तु वे सहजमें ही जाने जा सकते हैं। हृदयके शीतल अश्रु बिना चित्तके द्रवीभूत हुए निकलते ही नहीं। अतः पहिले सोचे। बहुतसे कठोर हृदयवालोंके आँसू आते ही नहीं। वे निरन्तर दूसरोंसे ईर्ष्या द्वेष करते रहते हैं, इससे उनका हृदय अत्यत कठोर और नीचतासे भर जाता है, जो चाहे भी कि हमारी आँखोंसे प्रेमाश्रु निकलें, तो नहीं निकलते उनको चाहिये कि वे एकान्तमे अभ्यास करें। वैसे अश्रु न निकलें तो कर्पूर लगाकर, काली मिरच लगाकर कडवा तेल लगा कर, सतराका रस लगाकर अश्रु निकालनेका अभ्यास करे, भगवल्लीलाओंके करुण प्रसङ्गोंको बार बार स्मरण करके हृदय को पिघलावें। हृदय ज्यों ज्यों पिघलेगा, त्यों त्यों फुरफुरी आवेगी, शरीरमे रोमाञ्च होंगे भगवान् की ओर मनका झुकाव होगा।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! अश्रु न निकलें तो क्या हानि?"

दृढता और शीघ्रताके साथ श्यामसुन्दर कहने लगे—"अरे, भैया! उद्धव, जब तक सम्पूर्ण शरीरमे रोमाञ्च न हो, जब तक चित्त भीगे वस्त्रके समान ऐंठने न लगे। वह पिघलकर द्रवीभूत न हो, जब तक प्रेमाश्रुओंका उद्रेक न हो, आँसू उमडने न लगें, जब तक भक्तिके ये सब चिन्ह प्रकट न हो तब तक अन्त.करणकी शुद्धि कैसे हो सकती है और बिना अन्त.करण विशुद्ध हुए भक्ति-स्रोत कैसे प्रवाहित हो सकता है। ये तो मेरी भक्ति प्रकट होनेके प्रधान चिन्ह ही हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! भक्तके लक्षण क्या हैं, किन लक्षणोंसे हम जानें कि ये भक्त हैं?"

इस पर भगवान् बोले—"उद्धव ! मेरा भक्त लोकवाह्य होता है, उसे लोकरञ्जन की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। वह तो निरन्तर अपने प्रभुको रिझाता रहता है और उन्हीं के भावमें भावित होकर उन्हींकी स्मृतिमें सतत निमग्न रहता है। उसके सब कार्य विलक्षण होते हैं। उसकी इच्छा कभी भगवद्गुणानुवाद कथन की होती है, और हृदय भर आता है, तो फिर वाणी नहीं निकलती। कण्ठ गदगद् हो जाता है, चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जैसे चन्द्रकान्ता मणि चन्द्रमाको देखकर बहने लगती है वैसे ही भक्तिमे भावित उसका अन्तःकरण बहने लगता है। कभी कोई विचित्र लीला याद आने पर मुक्तकंठसे रुदन करने लगता है, हा हरे ! हा जगत्पते ! कहकर वह ढाह मारकर विलखने लगता है कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है। शुद्ध अन्तःकरण होनेसे न उसे हँसनेमें देर लगती है और न रोनेमें। जैसे बालक अभी अभी रो रहा है, उसी समय उसे सुन्दर खिलौना फल, फूल, मिठाई या अन्य कोई इष्ट वस्तु दिखा दो तुरत तत्क्षण हँसने लग जायगा। कपोलोंपरसे अश्रु लुढक रहे हैं, मुखपर हास्य छिटक रहा है। बालकको यह विचार नहीं रहता कि कोई क्या कहेगा। लोग यह न समझें कि अभी अभी यह रो रहा था, अब हँसने क्यों लगा।" उसके मनमें यह विचार उठते ही नहीं। दूसरोंके सम्बन्धमें वह सोचता ही नहीं, उसे तो अपने आनन्दसे काम है। सबकी बुद्धि अपनी है, सब सोचनेको स्वतंत्र हैं, दूसरोंकी चिंता हम क्यों करें, हमें तो अपने परमानन्द मे निमग्न रहना है। कभी उसकी इच्छा होती है, तो उच्च स्वरसे गाने लगता है, उसे तालस्वर, लय आदि की चिन्ता नहीं रहती। उसका अन्तःकरण उसे गानेको विवश करता है, तो वह गाने लगता है। कभी अंग फडकने लगते हैं और रहा नहीं जाता तो लज्जा छोड कर नाचने भी लगता है। वह तो अपने रामको रिझानेकी चिन्तामे रहता है।

राम जिससे रीझ जायँ, उस कामको करनेमें वह कभी भी संकोच नहीं करता। ऐसा मेरा भक्त स्वयं ही पवित्र नहीं होता जो उसे देख लेता है, वह पवित्र हो जाता है, जो उसका कथा कीर्तन सुन लेता है, वह पवित्र हो जाता है, जो उसका प्रेमालिंगन करता है, वह पवित्र हो जाता है, जिस वायुमण्डलमें वह साँस लेता है पवित्र हो जाता है। अधिक क्या कहे वह त्रिभुवनको पावन करनेमें सर्वथा समर्थ होता है। रोना उसका व्यापार है। प्रायः वह प्रभु स्मृतिमें रोता ही रहता है।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! रोनेसे क्या होता है, रोवे तो वह जिसकी नानी मर जाय, या जिस पर विपत्ति आवे।"

भगवान् बोले—"भैया! इस संसार जालमें फँसे जीवको क्या कुछ कम विपत्ति है? शुद्ध अन्तःकरण विषयोंके संसर्गसे अशुद्ध बन गया है। जैसे खानमें रहनेसे सुवर्णमें अनेक धातुएँ तथा मल भर जाते है, वह अशुद्ध बन जाता है। उसे अग्निमें तपाकर द्रवित करके उसके मलको पृथक् कर लेते हैं। पिघल जानेसे उसका मल निकल जाता है, वह विशुद्ध बन जाता है, उसी प्रकार प्रभुस्मृति-भगवान्‌के न मिलने का जो तीव्र ताप है, वही एक प्रकारकी अग्नि है, जब उसके लगनेसे हृदय द्रवीभूत हो जाता है और अन्तःकरण रूपी सुवर्णका मल जल बन कर नयनों से निकलने लगता है, तब अन्तःकरणके मल, विक्षेप आवरण सभी समूल नष्ट हो जाते है। जैसे मैले दर्पण को पोंछते ही उसके ऊपर जमे मलके हटते ही उसमें द्रष्टाका स्वरूप स्पष्ट दिखायी देने लगता है उसी प्रकार प्रेमके द्वारा द्रवित हृदय जब स्वच्छ हो जाता है, तो उसमें मैं स्पष्ट क्रीडा करता हुआ दिखायी देता हूँ। तब जीव कर्मवासनाओंसे विमुक्त हो कर मुझे प्राप्त कर लेता है। मैं तो सबमें आत्मस्वरूपसे सदा सर्वदा निवास ही करता हूँ, मुझे प्राप्त क्या हो जाता है, शुद्ध अन्तःकरणमें मैं दृष्टिगोचर होने लगता हूँ।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! हृदयकी मलिनता हटे कैसे ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! कानमें मैल भर जाता है, तो पिचकारी डालकर धोते हैं। फेफड़ेमें जीवनतत्व कम हो जाता है, तो एक यन्त्रकी पिचकारी द्वारा उसमे प्राणशक्तिको भर देते हैं, जिससे दुर्बलताके कीटाणु मर जाते हैं और प्राणी सबल हो जाता है, उसी प्रकार हृदयकी मलिनताके लिये कानों और जिह्वाके द्वारा पिचकारी दे।"

उद्धवजीने पूछा—"कानों और जिह्वाके द्वारा पिचकारी कैसे दी जाती है महाराज ?"

भगवान् बोले—"कानोंसे मेरी कमनीय भागवती कथाओंको निरंतर सुनता रहे। मन न भी लगे तो बिना मनके ही उन्हें कानोंमें भरता रहे, पहिले तो मनमें आवेगी बिना मनके सुननेसे क्या लाभ ? किन्तु बिना मनके तो कोई काम होता ही नहीं। सुनने की दृढता भी मनसे आती है, अत. कैसे भी सुनने से संस्कार बनेंगे ही। जहाँ कथा कानमें पडी, तहाँ मनके सब मैल धुल जायँगे। जिह्वासे भगवान्का नाम लेता रहे उनकी कीर्तिका गान करता रहे अन्त करण शनै. शनै स्वच्छ होता जायगा।"

उद्धव बोले—"कहाँ स्वच्छ होता है महाराज ! हमने बहुतसे लोगोंको देखा है, जीवन भर राम राम रटते है, नियमसे कथा सुनते हैं, किन्तु व्यापारमें कपट करते हैं, पर स्त्री गमन करते हैं और भी बुरे से बुरे काम करते हैं। उन पर तो कथा कीर्तनका कुछ भी प्रभाव नहीं पडता।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! तुम जो कह रहे हो, वह सत्य है बहुतसे ऐसे लोग भी हैं, जो दम्भसे ऐसे कथा कीर्तनका सेवन करते हैं, उनके आचरण भी अच्छे नहीं, किंतु इससे यह परिणाम तो नहीं ही निकाला जा सकता कि वे कथा श्रवण या भगवद् गुण गान करते हैं, इससे ऐसे कुत्सित आचरण वाले हो गये हैं। इस-

लिये भजन या कथा श्रवण आदि कार्य करने ही न चाहिये। यदि यही बात होती, तो कथा न सुननेवाले, भगवान् का भजन न करनेवाले सबके सब सदाचारी ही होने चाहिये, किंतु लोकमें ऐसा होता हुआ दिखायी नहीं देता ; भजन पूजन कथा श्रवण न करनेवाले भी पापी होते हैं किंतु जो भजन पूजन करते हैं, उनसे कोई दुराचार अपचार बन भी जाता है, तो उनका हृदय उन्हें टोंचता रहता है, भगवान् की कथा, उनका गुणगान उनके पापोंको नाश करता जाता है। अनन्त जन्मोंके पापोंके संस्कारों से पाप करनेमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है। मनुष्य जैसे जैसे मेरी परम पावन कथाओंका श्रवण, मनन चिंतन और कीर्तन करेगा तैसे तैसे उसका चित्त परमार्जित होता जाता है। जैसे ग्रहण लगे चन्द्रमासे राहु की छाया हटती जायगी तैसे तैसे वह प्रकाशित होता जायगा। जैसे भूखा मनुष्य जैसे जैसे ग्रास खाता जायगा। तैसे तैसे उसकी भूख निवृत्त होती जायगी, धूलिसे ढके दर्पणकी धूलि जैसे जैसे पुँछती जायगी, तैसे तैसे उसमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देता जायगा। जैसे किसीकी आँखमें जाला फूली पड़ गयी है, किसीने उसे सुंदर अञ्जन दे दिया, कि इसे लगाओ तुम्हारा जाला कट जायगा। वह विश्वास करके अञ्जनका सेवन करने लगा। जैसे जैसे वह उसे लगाता जाता है तैसे तैसे उसका प्रकाश बढ़ता जाता है। अथवा जैसे बहुत ही कोई सूक्ष्म वस्तु है, साधारण आँखोंसे वह दिखायी नहीं देती, किंतु जब कोई दिव्य अञ्जन लगा लेते हैं, तो दूरसे दूरकी और सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तु दिखायी देने लगती है वैसे ही कथा कीर्तन अञ्जन हैं जहाँ इनका सेवन किया नहीं, कि चित्त स्वतः ही द्रवीभूत होता है, मेरे विषयमें ऊहापोह करता रहता है, इसलिये उद्धव ! निरन्तर मेरी कथा सुननेसे मेरे नाम और गुणोंके कीर्तनसे मैला मन विशुद्ध बन जाता है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! साधन तो बहुत हैं, मुझे कोई एक गुरुमंत्र बता दीजिये।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! तुम एक प्रश्नको बार बार पूछोगे, मैं बार बार उसका एक ही उत्तर दूँगा, इसमे तुम पुनरुक्ति दोष मत मानना। किसीके शरीरमें भयङ्कर पीडा है, वह निरन्तर

कराहता रहता है, बार बार 'हाय हाय' इसी शब्दको कहता है, एक ही शब्दकी पुनरावृत्ति करता है, वह तब तक पुनरावृत्ति करता रहता है, जब तक उसका कष्ट दूर नहीं हो जाता। सान्त्वना देने-वाले बार बार उसे वे ही पुरानी बातें कह कह कर सान्त्वना देते

हैं। तुम मुझसे बार बार सरल सुगम साधन पूछते हो, मैं उसका एक ही उत्तर देता हूँ, सत्सङ्गका सेवन दुःसङ्गका त्याग।"

उद्धवजीने कहा—"सत्सङ्ग और दुस्सङ्गका प्रभो! मुझे स्वरूप समझाइये और उनका प्रभाव क्या होता है, इसे समझाइये।

हँसकर भगवान् बोले—'उद्धव ! मैं तो पीछे बहुत बार इस विषयमें कह आया हूँ, फिर भी कहता हूँ, तुम इस विषयको दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो ! अब आप दुःसङ्ग और सत्सङ्गके प्रभावके सम्बन्धमें श्रवण करें।"

छप्पय

उद्धव ! सोचो प्रेमअश्रु बिनु गदगद् बानी।
बिनु तनु पुलकित भये मोद पावैं च्यों प्रानी॥
ह्वैकें भक्त विभोर प्रेममें नाचें गावें।
करि करि प्रेमप्रलाप हँसे रोवें गिरिजावें॥
भक्तियोग साधन सरल, सुलभ शुद्ध अञ्जन सरिस।
कथा कीरतनतें नसै, हियमहँ संचित विषय विष॥

—:꘎:—

सत्संग और दुस्संगका प्रभाव

(१२६४)

विषयान्ध्यायताश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरताश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १४अ० २७श्लो०)

छप्पय

जो सोचो सो बनो होहि जाको जैसो सँग ।
श्वेत वस्त्र सम चित्त रँगै जैसे होवे रँग ॥
विषयनि चिन्ता करै विषयमय मन बनि जावे ।
मेरी चिन्ता करै भक्त मेरो पद पावे ॥
साधन सबरे असत् हैं, स्वप्न मनोरथ सम सकल ।
तातैं सब तजि मोइ भज, मम चिन्तन साधन सफल ॥

छाया चित्र लेनेका एक यन्त्र होता है। अभिनय कर्ता स्त्री पुरुष पात्र अभिनय करते हैं, उनके चित्र उसमें आते रहते हैं। कोई पात्र प्रेमका अभिनय कर रहा था, उसकी अभिनय की प्रेयसी समीप खड़ी थी। सिखाया पढ़ाया पालतू सिंह वहाँ

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! विषयोंका ध्यान करने से चित्त विषयोंमें फँस जाता है और मेरा ध्यान करने से चित्त मुझमें विलीन हो जाता है।"

खड़ा था, वे छाया चित्र बनाने के अभिप्रायसे कुछ नाट्य कर रहे थे, सहसा रंगमें भंग हो गयी, वह पालतू सिंह भड़क उठा और उसने उस नटी को खानेकी भावना से पकड़ लिया। इस दुर्घटनासे नाट्य तो समाप्त हुआ। पात्र सिंहके भयसे इधर उधर भग गये, किन्तु जो युवक प्रेमका अभिनय कर रहा था, उसने साहस नहीं छोड़ा। उसके हाथमें विद्युत्का तीव्र था उसे लेकर वह सिंहके ऊपर झपटा। अपने प्राणों का पण लगाकर उसने उस युवतीकी रक्षाकी, उसी समय दूसरेने आकर गोली मार दी सिंह मर गया दुर्घटना होते होते बच गयी। नाटकके छाया चित्र लेनेको जो यन्त्र चल रहा था, वह चलता ही रहा। उसमें ये सब भी चित्र आ गये। पीछे जब पात्रोंने उन चित्रोंको देखा, तो वे कहने लगे—"हमने तो ये कार्य अभिनयके अभिप्रायसे किये नहीं थे, यह तो अकस्मात् दैवी घटना घट गयी।" दूसरेने कहा—"चलते हुए यन्त्रके सम्मुख तुम चाहे यथार्थ अभिनय करो चाहे अयथार्थ जो भी करोगे उसीके चित्र यन्त्रमें आजायेंगे। सारांश यह कि मनमें जो भी कुछ सोचेंगे, उसका प्रभाव हमारे मन पर बिना पड़े रह नहीं सकता। मन तो स्वच्छ शुभ्र वस्त्र है, जिस रंगके पानीमें इसे डुबो दोगे उसी रंग में रँग जायगा। जैसी चिन्तना करोगे, जैसे काम करोगे मन वैसाही बन जायगा। जगत्की चिन्तना करोगे मन संसारमय बन जायगा, जगत्पतिकी चिंता करोगे तो उन्हींमें मन मिल जायगा। इसीलिये साधकको चाहिये कि इन संसारी पदार्थोंकी ईंट, पत्थर गारा चूना सोना चाँदी आदि भौतिकनाशवान् पदार्थोंमें चित्तको न रमाना चाहिये। यदि चित्त इनमें रम गया, तो वैसाही होजायगा। जिन वस्तुओं का ध्यान करोगे, उनका संस्कार मनपर पड़ेगा। यह घटना समाप्त होगयी, तो विचार धारा भी समाप्त होगयी सो बात नहीं। कोई भी घटना हृदय पर अपना कुछ न कुछ प्रभाव छोड़कर ही जाती है। बार बार उसका ध्यान

करनेसे उस विषयमें अभिनिवेश होजाता है, आसक्ति हो जाती है। फिर उसके भोगकी कामना होती है, मन उसीसे रंगमें रंग जाता है। तुम्हें रहना है, वृक्षके नीचेभी रह सकते हो फूँसकी झौंपड़ीमें भी रह सकते हो बड़े बड़े महलोंमे भी रह सकते हो। जितना ही बडा जितना ही सुन्दर घर बनाओगे उतनी ही अधिक आसक्ति बढ़ेगी। निर्वाह तो फूँसकी झौंपडीमें भी हो सकता है और राज महलोंमें भी। राजमहलोंमें रहने वालोको कोई दुख न होता हो, कोई असुविधा प्रतीत न होती हो सो भी बात नहीं। वे भी दुखी चिन्तित होते हैं और पूछने पर कह देते हैं—"महाराज! जिस किसी प्रकार निर्वाह कर रहे हैं।" जब निर्वाह ही करना है संसार में अतिथिके सदृश बसना है, तो इन असत् नाशवान् पदार्थोंकी इतनी अधिक चिन्ता तुम क्यों करते हो। इस विषयमें एक बड़ाही सुन्दर दृष्टान्त है।

नारदजी घूमते फिरते वीणा बजाते, हरि गुण गाते कहीं जा रहे थे। उन्हें वनमें एक वृक्षके नीचे झोपडी दिखायी दी। झोंपडी पुरानी थी, देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था, कि इसमे कभी पहिले द्वार रहा होगा। किन्तु जिस बाँसके सहारे वह खडी थी उसका एक बाँस वायुसे गिर गया था, झोपडी तो खडी रही किन्तु उसमेंसे निकलने का मार्ग नहीं रहा। नारदजी देखते रहे, उन्हें ऐसा भान हुआ मानों इसके भीतर कोई बैठा है। मनमे कुतूहल हुआ। वीणा एक ओर रख दी और जिस किसी प्रकार छप्परको उठाकर उसमें घुसे। भीतर जाने पर उन्होंने सचमुच एक मुनिको ध्यान लगाये बैठे देखा। कुछ भीतर प्रकाश आया और नारदजी ने ध्यान से देखा, तो उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, वे तो चिरजीवी महामुनि मार्कंडेय थे। नारदजी ने कंधा पकड़ कर उन्हे झकझोरा और कहा—"महाराज! मैं नारद आयाहूँ।"

मार्कंडेय मुनिका ध्यान भंग हुआ उन्होंने कहा—"नारद! भगवान् के गुणानुवाद गाओ।"

नारदजीने हँसकर कहा—"अजी, महाराज! गुणानुवाद तो पीछे गावेंगे, पहिले यह बताइये आप कबसे भीतर बैठे हैं, यह बाँस टूटकर गिर गया है। कुटीमे से निकलने का मार्ग भी नहीं रहा है। एक नया बाँस लाकर आपने इसमे क्यों नहीं लगा दिया।"

डाँटकर मुनिने कहा—"नारद! तुम कैसी बाते बक रहे हो। हमे भैया! इतना समय कहाँ कि बन मे जायँ, बाँस काटें, फिर उसे छीलें भूमि खोदें उसमे उसे गाडें छप्पर को उठावें। जिस समय हम इन व्यापारों को करेगे हमारा मन इन भौतिक वस्तुओं की चिन्ता मे लग जायगा ब्रह्मचिंतना छूट कर बाँसचिन्तना करनी पड़ेगी। मुझे ध्यान करना था, यह कुटी मिल गयी। ध्यान करता रहा। जब इच्छा होगी अन्य स्थान पर जाकर ध्यान करूँगा। ये व्यर्थ की बाते बनाकर समय नष्ट मत करो। समय अति अल्प है, भगवान् के सम्बन्ध मे ही बातें करो।"

अब आप सोचिये मार्कण्डेय मुनि जैसे कल्पजीवी महात्मा के पास इतना भी समय नहीं कि एक टूटे बाँस के स्थान मे नया बाँस लगा दें, तो हम अल्प आयु वाले पुरुष जो बड़े-बड़े महल बनाते हैं, कितने गधा ईंटों के आये इन्हें गिनते रहते हैं, कितनी बालू आई, कितना चूना आया, इसी की चिन्तना करते रहते हैं उन्हें मरकर ईंट चूना और पत्थर होना पडेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से सरल सुगम साधन के सबन्ध मे पूछा तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! देखो, यह जो चित्त है, वह शुभ्र स्वच्छ वस्त्र के सदृश है। इसे जैसे रँग मे रँग दोगे वैसा ही बन जायगा। हमारे विचार ही प्रभु की प्रार्थना हैं, जो जैसा विचार करेगा, वैसा ही बन

जायगा। यह संसार कल्प वृक्ष है, भगवान् ही इस वृक्ष के बीज हैं। जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा इसलिये इस संसार वृक्ष के नीचे बैठकर जैसा चिन्तना करोगे, वैसे ही बन जाओगे। यदि इसके फलो के खाने में लग गये तो भटकते रहोगे। यदि कुछ भी न खाकर-विषयों से दूर रहकर बीज के विषय में चिन्तना करते रहे तो उसी मे तदाकार हो जाओगे। यह जितना भी दृश्य जगत् है यह सब हमारे ही मनका बनाया हुआ है। जब तक मन इन संसारी पदार्थों में फँसा रहेगा तब तक उसे संसार के ही दर्शन होंगे, जब इनसे मुख मोड कर आँख बन्द करके हृदय कमल मे बैठे मुझ सच्चिदानन्दघन भगवान् का चिन्तन करेगा, तो मुझमे ही मिल जायगा। उद्धव! यह कोई बहुत बडी बात नहीं है तुम नित्य ही अनुभव करते हो, दिन मे जिस वस्तु का चिन्तन करते हो, सोते समय स्वप्न मे भी वही वस्तु दिखायी देगी, एकान्त मे विचार करोगे, तो उसी के सम्बन्ध में करोगे, बातें भी करोगे, तो उसी की सिद्धि के लिये करोगे। जो बात तुम्हारे मन मे उठी वह कभी न कभी पूरी होगी, यदि बहुत सूक्ष्म वासना है, तो वह स्वप्न में समाप्त हो जायगी। यदि प्रबल वासना है, तो उसके लिये जन्म लेना पड़ेगा। यह हो नहीं सकता कि जो बात मन मे आयी, उसके संस्कार शेष न रहें। किसी डिब्बी मे कपूर रख दो। कपूर समय पाकर भले ही उड़ जाय किन्तु उसकी वासना-सुगन्धि उसमे कुछ काल तक बनी ही रहेगी। इसीलिये साधक को सदा सर्वदा सचेष्ट रहना चाहिये कि मनमे कभी भी किसी प्रकार भी असत् संकल्प न उठने पावे। कितना भी धनी मानी विद्वान् या भाग्यवान् पुरुष क्यो न हो यदि वह चित्त से निरन्तर विषय चिन्तन करता रहता है, तो उसका चित्त विषयों मे फँस ही जाता है। इसके विपरीत जो विषयों के प्रति सदा उदासीन रहता है चलते फिरते उठते बैठते

सदा मन से मेरा स्मरण करता रहता है वह निश्चय ही अवि-लम्ब ही बिना किसी सन्देह के मुझमे ही लीन हो जाता है। इसीलिये मैं बारबार बल देकर डंके की चोट पर कहता हूँ कि अन्य जितने भी सांसारिक साधन हैं असत् साधन हैं। एक मात्र मेरा चिन्तन ही सत् साधन है।

उद्धवजीने पूछा—"तब महाराज ! हम करें क्या ?

भगवान् बोले—"अरे, भाई बार बार तो बता चुके, अब तुम उसी बातका पिष्टपेशण कराते हो। ये जितने बाह्य साधन हैं, सब असच्चिन्तन मात्र हैं स्वप्नके समान तथा एकान्तमें बैठकर किये हुए मनोरथोंके समान हैं। इन सबको छोड़कर मुझमें ही मन लगा दो।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! लगा तो बहुत दें, किन्तु जब लगे तब न ! आपमें चित्तको हठ पूर्वक लगाते हैं, अवसर पाते ही तुरन्त वह भाग जाता है, विषयोंमें चला जाता है यह क्या बात है ?"

भगवान् बोले—"भैया ! निरन्तर विषयोंका चिन्तन करते करते चित्त अशुद्ध बन गया है, इसे विषयोंमें रमण करनेका अभ्यास हो गया है, इसे जैसे किसीकी एक गौ है, उसने किसी दूसरे स्वामीके हाथमें उसे बेच दिया। उसने उसे खूँटेसे बाँध दिया, जब तक वह दृढ़तासे बँधी रहेगी तबतक वहाँ रहेगी, जब अवसर मिला बन्धन ढीला हुआ, कि अभ्यास वश फिर अपने पुराने स्वामीके ही समीप वह आजायगी। उसकी पूरी आसक्ति तो उसी स्थानमें है। इसी प्रकार यह मन विषयोंमें रमते रमते अशुद्ध बन गया है।

उद्धवजीने पूछा—"तब महाराज ! यह अशुद्ध मन शुद्ध कैसे हो ? बिना शुद्ध हुए यह आप में लग ही नहीं सकता।"

भगवान्—बोले—"शुद्ध होने का उपाय भी मेरा चिन्तन ही है। मन न लगे तो बिना मन के ही उच्चस्वर से मेरे नामों को जपे मेरा कीर्तन करे-मेरी कथाओं को बारम्बार मन न भी लगे तो भी लगे तो भी सुने। ऐसा करते रहने से शनैः शनैः चित्त शुद्ध हो जायगा, अब तक जो साधन था, वही चित्त शुद्ध होने पर साध्य हो जायगा। मेरे चिन्तन से शुद्ध हुए चित्त को एक मात्र मुझमें ही मिला दो।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! मुझे स्पष्ट समझादो क्या छोडे क्या ग्रहण करे। किस कार्यको छोड दें और कौन कार्य करें।"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव ये बातें संकेत से कहने की हैं अब जब तू सब बात जवनिका को हटा कर स्पष्ट ही सुनना चाहता है, तो तुझे सुनाता हूँ "इसे तू ध्यान पूर्वक श्रवण कर।"

सूतजी कह रहे हैं,—"मुनियों! अब जैसे भगवान् ने ध्यान करने की पात्रता बताई है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

तिरियनिको तजिनेह सग विषयी पुरुषनिको।
धीर वीर गम्भीर बनै प्रिय सब जीवनिको॥
भजन हेतु घर तजै समय नहिँ व्यर्थ बितावै।
निरखि शान्त एकान्त पुण्यथल ध्यान लगावै॥
करै न आलस भजन महँ, कथा कीरतन महँ निरत।
अथवा प्राणायाम करि, करै ध्यान मेरो सतत॥

—::❀::—

ध्यान करने की पात्रता

(१२६५)

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ *
(श्रीभा० ११ स्क० १४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

उद्धव बाँधी गाँठ मोक्ष मारग अति दुस्तर।
पग पग पै अति क्लेश देहिं ये विषय निरन्तर॥
जैसो होवे क्लेश कामिनी अरु कामिनि तैं।
तैसो होवे नहीं लोभ मोहादि रिपुनि तैं॥
संसृति को ही हेतु है, कामधुग को संग नित।
तातैं तजि अबिलम्ब नर, मम चरननि महँ देहिं चित॥

ऋषियोंने दो ही आनंद बताये हैं विषयानन्द और ब्रह्मानंद। इसलिये दो ही मार्ग हैं, काम मार्ग और राम मार्ग। काम मार्गकी साधिका नारी है, राम मार्गकी साधिका भक्ति है। जहाँ काम है वहाँ राम नहीं रहते और जहाँ राम हैं वहाँ कामका क्या काम ?

* उद्धव से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! आत्मवान् पुरुष को चाहिये कि स्त्रियों का और स्त्रीसङ्गियों का सङ्ग दूर से ही छोड़कर निर्भय तथा निर्जन स्थान में स्थित होकर निरालस्य भाव से मेरा चिन्तन करे।

राम किसीके पुत्र नहीं वे चराचर लोकके पिता है और काम संकल्पका पुत्र है, इस लिये राम-मार्गकी ओर बढ़नें वालेको जिससे विषयोंका संकल्प हो उसमें कामको रोक देना चाहिये। संकल्प उठता है संगसे। इसीलिए मुमुक्षुओंके लिए निस्संगता ही मुक्तिका प्रधान साधन है। विषयोंके ध्यानसे, चिन्तनसे संग होता है। जहाँ संग हुआ वहाँ कामकी उत्पत्ति हो जाती है। मनमें कामनाके उत्पन्न होते ही चित्तकी वृत्ति तदाकार हो जाती है। यह काम ही अनेक रूप रख कर संसार बन्धन को अधिकाधिक दृढ़ करता जाता है। स्त्री पुरुष के संग से शरीर की उत्पत्ति होती है, अतः शरीर धारी के मन में छिपी हुई कामना रहती है वह कामना मनोनुकूल वस्तु को पाकर उभड़ आती है और उसके प्रति आसक्ति हो जाती है। जिसमें आसक्ति हो जायगी मन उसी के हाथों बिक जायगा उसी का हो जायगा। अतः मुक्ति की इच्छा वाले पुरुष को स्त्री की आसक्ति और मोक्ष की कामना रखने वाली स्त्री को पुरुष की आसक्ति छोड़नी ही पड़ेगी। जब तक ये दोनों परस्पर में आसक्ति न छोड़ेंगे तब तक वे भगवान् को हृदय में बिठा नहीं सकते। क्योंकि हृदय की कोठरी बहुत छोटी सी है उसमें दो के लिये स्थान है ही नहीं। या तो वहाँ कोदंडधारी राम ही बैठेंगे या कुसुमायुध काम का ही आसन रहेगा। अन्धकार और प्रकाश दो साथ रहे यह असंभव है।

शौनकादि ऋषियों से सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ध्यान करने की पात्रता कब आती है, इस विषय को बताते हुए भगवान् उद्धव से कह रहे हैं—"उद्धव! लोभ छोड़ देना कोई कठिन काम नहीं है, बहुत से लोग मत्सर प्रमाद तथा अन्यान्य दुर्गुणों को भी छोड़ देते हैं, किन्तु इस काम पर विजय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। बड़े बड़े त्यागी तपस्वी इसके चक्कर मे फँस गये हैं, पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण मनका स्वभाव ऐसा हो गया, कि विषयों की

ओर वह बिना प्रयास के ही चला जायगा। भगवान् की ओर जाने के लिये प्रयास करना पड़ेगा, इस प्रयास का ही नाम साधन है। साधक का सबसे पहिला कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों का और स्त्रियों के संगियों का संग सदा के लिये त्याग दें। जिसका चिन्तन होगा, उसमे आशक्ति होगी। स्त्री के चिन्तन से स्त्री के दर्शन से और स्त्री के स्पर्श से मनुष्य साधन से च्युत हो जाता है।

भगवान् से उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! माता को, वहिन को, गुरु पत्नी को छूते ही हैं आप स्त्री मात्र के स्पर्शका विरोध क्यों कर रहे हैं ?"

इस पर भगवान् बोले—"उद्धव ! मैं अपने घर से थोड़े ही कह रहा हूँ। ब्रह्माजीने जब रतिको उत्पन्न किया तो उसे देखते ही सबके मन में उसे पाने की इच्छा हुई। ब्रह्माजी का भी चित्त चंचल हुआ। तब ब्रह्माजीने कामदेवके साथ उसका विवाह कर दिया और कह दिया—बाल्यकाल मे तुम मे दोष न होगा। इसलिये वालकपन मे तो कोई दोष होता नहीं। युवावस्था सम्पन्न पुरुष को तो एकान्त मे अपनी वहिन पुत्री तथा माता का भी स्पर्श न करना चाहिये। यह नियम तो गृहस्थों के लिये है, त्यागी के नियम तो और भी कठिन है। सजीव स्त्रियों के स्पर्श की तो बात ही क्या उन्हें तो स्त्रियों के बने चित्रों को भी न देखना चाहिये। काठ की बनी स्त्री मूर्ति का पैर के अंगूठे से भी स्पर्श न करना चाहिए।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! काठकी पुतलीको छूनेमें क्या दोष ? काठ तो काठ ही है।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! इस धूर्त लुटेरे मनका पता नहीं। यह तपस्यासे बलवान् होने पर भी विषयों की ओर झुक जाता

है, तब और भी अधिक अनर्थ करता है। इस विषयमे तुम एक दृष्टान्त सुनो।

एक तपस्वी थे तपस्वी, बड़े त्यागी, बड़े विरागी। एकान्त में रहते सूखे पत्तोको खाते यमुनाजीमें स्नान करते, किसी की ओर देखते भी नहीं थे। निरन्तर तपस्यामे निरत रहते। तपस्या करते करते उन्हे संकल्प सिद्धि हो गयी। मुनिको पता ही नहीं था, कि मुझे संकल्प सिद्धि हो गयी है।

एक दिन मुनि स्नान करके लौट रहे थे, कि उनके पैरसे एक कठपुतली छू गयी। मुनिने उसे उठाया। देखा किसी कलाकार ने बड़ी सुन्दर मूर्ति बनायी है, मुनि कुतूहलवश् उसे अपनी कुटी पर ले आये। कमंडल, रखकर उसे ध्यान पूर्वक देखने लगे। मूर्ति बड़ी सुन्दर बनी थी, उसमे स्त्रियोंके चिन्ह बड़े स्पष्ट और सुन्दरतासे दरसाये गये थे। मुनि उसके अर्धोन्मीलित नेत्रों की ओर देखते के देखते ही रह गये। सहसा उनके मनमे यह विचार उठा कि यह मूर्ति यदि सजीव हो जाती, तो बडी सुन्दर होती।"

इतने दिन की तपस्या में मुनिने कोई इच्छा नहीं की थी, इससे उनके इष्ट उनके आभारी थे, इष्ट चाहते थे, यह कुछ चाहे उसे हम तत्काल पूरा करें। सहृदय पुरुप अपनी स्तुति पूजा करने वाले के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना ही चाहते हैं। मुनिके इष्ट को बड़ी प्रसन्नता हुई, कि आज मेरे भक्त ने कुछ चाहना तो की। सहसा देखते देखते वह काटकी मूर्ति सजीव हो गयी। मुनिको बड़ा आश्चर्य कुतूहल हुआ। उन्होंने उसे गोदी मे उठा लिया। सोचने लगे—"यह बड़ी होती तो इससे बातें करता।" इतना सोचना था, कि वह बड़ी हो गयी। मुनिने प्रेम पूर्वक उसका आलिङ्गन किया। दो विभिन्न लिङ्गके पुरुप जब एक दूसरे को छूते हैं, तो उनका मन खिंच जाता है, विवश हो जाता है। उस समय संयम और साहस दोनो ही भाग जाते हैं।

अब तो मुनि तपस्या फपस्या सब भूल गये, बानाजीसे बाबूजी बन गये। एक दो बच्चे भी हो गये। तपस्या का लेखा बराबर हो गया। स्त्री भाँति-भाँति की आवश्यकता नित्य बताने लगी। आज यह नहीं है कल यह चाहिये। एक दिन मुनि ने दुखित होकर बहुत धन हो जाय ऐसा संकल्प किया, किन्तु वह पूरा हुआ नहीं, हो भी कहाँ से तप का लेखा तो पूरा हो गया था। एक बार जो मिश्री खा चुका है, उसके स्वाद को वह भूल थोड़े ही सकता है। मुनिको अपनी तपस्याके दिन याद आये। वे सोचने लगे—"हाय! मैं कितना भ्रष्ट हो गया। लकड़ीकी स्त्री मूर्ति पैर से छूने के कारण जब मैं तपस्या से च्युत हो गया तो जो त्यागीका वेष बनाकर युवतियों के साथ रहते हैं, उनका पतन न हो यह असंभव है। इसलिये मैं अपने अनुभवसे कहता हूँ, कि यतिको पैर के अँगूठे से भी काठ की बनी पुतली का भी स्पर्श न करना चाहिये। भूलसे हाथी काठकी हथिनीको छूकर मेरी भाँति बन्धनमें फँस जाता है। ऐसा कहकर वे सब को छोड़कर पुनः तपस्या करने वनको चले गये। भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं "उद्धव! कामिनियोंके संगसे भी बढ़कर पतन का कारण कामी पुरुषों का संग है। जो जैसे विचारका पुरुष होता है, उसके शरीरसे वैसे ही विचार के परमाणु निकलते रहते हैं। जो धूम्रपान करता है उसके मुखसे, शरीरसे उसीकी दुर्गन्धि आती है। एक आदमी बैठा धूम्रपान कर रहा है उसके समीप ही दूसरा बैठा है। दूसरा धूम्रपान नहीं करता किन्तु उसकी दुर्गन्धिको तो वह सूँघता है। कुछ दिनों में उसकी भी इच्छा होने लगेगी। एक दो बार विनोद में पीवेगा, फिर उसका भी अभ्यास हो जायगा। जैसे धूँए के परमाणु समीप वाले के शरीर में प्रवेश करते हैं वैसे ही काम क्रोध के परमाणु प्रवेश करते हैं। कोई हमारी बहिन हैं। दोनों ओर शुद्ध भाव हैं

किसी प्रकार पुरुष के मन में पाप आया और पापभरी दृष्टि से उसने बहिन को देखा तो उसका भी मन विकार युक्त बन जायगा। आँखे ही भावों को स्पष्ट बता देती हैं उनमें से भावों की किरणें निकला करती हैं। कामी पुरुष के शरीर से कामको उत्पन्न करनेवाले परमाणु निकलकर समीपमें रहने वाले के मनको भी कामनायुक्त बना देते हैं। महात्मा पुरुषोंके शरीरसे साधुताके परमाणु निकलते हैं, किन्तु सद्गुणोंकी अपेक्षा दुर्गुणोंका प्रभाव अति शीघ्र पडता है इसलिये मुमुक्षु पुरुषोंको— परमार्थ पथके पथिकों को स्त्री संगियोंका सङ्ग दूरसे ही त्याग देना चाहिये। देखो सौभरि ऋषि किसी का संग नहीं करते थे जल में डूब कर तपस्या करते थे। वहाँ जलके भीतर उन्होंने मैथुन करते हुए मत्स्यको देखा उस जलचर जीवके मैथुनका प्रभाव मुनिपर पडा। उन्होंने सोचा—"मैंने तपस्यामें ही समय बिताया, जिस सुखमे यह मत्स्य इतनी सुखी है उस गृहस्थ सुखका मैंने अनुभव नहीं किया इसमें क्या है।" इस सकल्पके आते ही वे त्यागीसे गृही बने और पचास राज कुमारियोंसे विवाह किया। पीछे पछताये और रो रो कर बोले— "मुमुक्षुको मिथुनव्रतियो का कभी संग न करना चाहिये, इन्द्रियों को बाहरी विषयोंकी ओर न दौडाना चाहिये।"

भगवान् कह रहे हैं —"उद्धवजी! इन सब उदाहरणोंके देने का अभिप्राय इतना ही है, मुमुक्षुको ऐसे लोगोंका कभी सग न करना चाहिये जिनके सगसे कामके परमाणु अपने शरीरमे प्रवेश करें। जब वह कामियोंका, कामिनियोंका सङ्ग छोड देता है, तभी वह ध्यान करने का अधिकारी होता है।"

इस पर उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! अब आप मुझे ध्यानके ही सम्बन्धमें बतावे। साधकको किस प्रकार ध्यान करना चाहिये

किस रूपमे ध्यान लगाना चाहिये, किस भावसे आपका ध्यान करना चाहिये, कृपा करके मेरे इन प्रश्नो का उत्तर दे।"

इस पर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं तुम्हें ध्यान का ही उपदेश देता हूँ। तुम उसे ध्यान पूर्वक सुनो।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार—भगवान् ने ध्यान करने की विधि बताई उसका वर्णन मैं आप से करता हूँ।

छप्पय

बोले उद्धव—'नाथ! ध्यान विधि मोइ बतावें।
कौन भाव किहि भाँति रूप तव कैसो ध्यावें॥
हरि बोले—"सुनु सुहृद! प्रथम सम आसन बाँधे।
पुनि पुनि प्राणायाम करै प्राणनिकूँ साधै॥
कमलनाल सम प्रणव ध्वनि, घटा नाद समान स्वर।
तीन काल दश बेर करि, होहि सहज महँ चित्तथिर॥

—:&:—
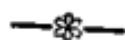
ध्यान की विधि

(१२६६)

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञान क्रियाभ्रमः॥*

(श्रीभा० ११स्क० १४अ० ४६श्लो०)

छप्पय

हृदय कमलदल अष्ट प्रफुल्लित साधक ध्यावै।
सूर्य चन्द्र अरु अग्नि कर्णिकामाहिं बिछावै॥
चिन्तै मम मुख मधुर बाहु वर चार विशाला।
शंख चक्र अरु गदा पदुम पहिने बन माला॥
मकराकृत कुण्डल कलित, श्रीनिवास पट पीत वर।
भुज अङ्गद कटि करधनी, नूपुरयुत पद अति सुघर॥

धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों का नाम संयम है। आसन प्रत्याहार और प्राणायाम ये वाह्य साधन हैं, इनके द्वारा ध्यान की सिद्धि होती है। सिद्ध हुई धारणा ही ध्यान के रूप में परिणित हो जाती है और ध्यान की परिपक्व अवस्था का ही

---

*उद्धवजी से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार यदि योगी अत्यंत तीव्र ध्यान योग के द्वारा चित्त का संयम करता है, तो उसके चित्त का द्रव्य, ज्ञान और कर्म सम्बन्धी भ्रम अतिशीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।

नाम समाधि है। यह शरीर दोषों की खान है, इसमे मल ही मल है। नवद्वारों से निरन्तर मल ही निकलता रहता है। दर्पण के आगे जैसी वस्तु आवेगी वैसा ही प्रतिविम्ब दिखायी देगा। शरीर मे रहने वाले मुख्य दश प्राण हैं, वह शरीर की नाडियो मे संचार करते रहते हैं। नाडियाँ यदि शुद्ध होंगी तो ध्यान भी शुद्ध होगा। यदि नाडियाँ अशुद्ध हुई तो ध्यान भी अशुद्ध मल का ही होगा। अतः सर्वप्रथम ध्यान करने वाले को नाडी शुद्धि का प्रयास करना चाहिये। बहुत से लोग नाडी शुद्धि के लिये नेति धोति आदि षडकर्मों का अभ्यास करते हैं, किन्तु इनसे पूर्ण नाडी शुद्धि नहीं होती। भीतर भरा मल कुछ कम अवश्य होता है, किन्तु नाडियो मे भरा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मल तो एक विशेष प्राणायाम द्वारा ही शुद्ध होता है, उसके शुद्ध होने की मोटी पहिचान है, कि सुषुम्ना नाडी के चलते फिरते उठते बैठते सर्वत्र प्रत्यक्ष दर्शन होने लगते हैं। शरीर मे वैसे तो बहुत नाडियाँ हैं, किन्तु सुषुम्ना प्रधान नाड़ी है। वह गुदा से लेकर मस्तक तक है, समस्त नाडियाँ सुषुम्ना से ही निकली हैं। पीठ के पीछे गुदा से लेकर कंठ तक एक रीढ की हड्डी है, वह एक हड्डी नहीं है। एक के ऊपर एक कसेरुकायें रखी हैं। वे पोली हैं सुषुम्ना नाडी उन्हीं के भीतर से गयी है, उसी मे से नाडियाँ निकल कर सम्पूर्ण शरीर मे जाल के समान फैली हैं। सुषुम्ना से ही जीवन है। जब सुषुम्ना शरीर का सम्बन्ध छोड़ देती है तभी प्राणी मर जाता है। कुल कुण्डलिनी शक्ति गुदा के मूलाधार चक्र में सुषुम्ना के मुख को अपनी पूछ से रोके साढ़े तीन वलय लगाये सोई हुई पडी रहती है। किसी प्रकार सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत हो जाय तो सुषुम्ना का मुख खुल जाय और वह कुण्डलिनी उलटकर उसी सुषुम्ना के द्वार में घुस कर छैऊ चक्रों को भेदन करते हुए सहस्रारचक्र में पहुंच जाय तभी सदाशिव सच्चिदानंद घन की प्राप्ति होती है। अन्यथा

नहीं। तीव्र ध्यान के ही द्वारा कुण्डलिनी का उत्थान होता है और जब उसकी गति :ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है, तभी समाधि सुख की प्राप्ति होती है।

सूत जो शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान् से ध्यान के सम्बन्ध में पूछा तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! ध्यान के लिये सब से पहिले आसन की अत्यंत आवश्यकता है। योग का आरम्भ आसन से ही होता है। यम नियम तो सभी साधनोंमें आवश्यक है, उनके बिना तो साधनों मे प्रवृत्ति नहीं अतः वे तो व्यापक हैं। प्रथम आसन का अभ्यास कर। नस और नाड़ियों को मृदुल कोमल बनाने के लिये अनेक आसन हैं! आसन के जानने वाले तो कहते है चौरासीलाख आसन हैं, अर्थात् जितनी योनियाँ हैं उतने आसन हैं। किन्तु बैठने के बहुत से आसनों मे से पद्मासन सिद्धासन और सहजासन या स्वस्तिकासन ये मुख्य हैं। किसी भी आसन से बैठे रीढ़ को हड्डी को सीधी रखे, शरीर को सम भाव मे स्थिर करे। शरीर को जिस मे सुख हो और घुटने पृथिवी से सटे रहें ही आसन श्रेष्ठ है। आसन बाँधकर शरीर को सीधा करके दोनो हाथो को गोद मे स्वाभाविक रूप से रखे। यह तो हाथ पैर और धड़ का संयम हुआ। फिर सिर का संयम करे। दृष्टि को चंचल न होने दे। आँखोंको न तो पूर्ण बंद ही करले न पूर्णरीत्या खुली रखे। पूर्ण बंद कर लेगा, तो कुछ ही काल मे निद्रा आने लगेगी। पूर्ण रीत्या खुली ही रखेगा तो दृष्टि चंचल होगी, अतः अर्धोन्मीलित रखे। दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में जमाये रखे जिससे अन्य वस्तुओं के दीखने से उनके प्रति संकल्प विकल्प न उठे। फिर प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का शोधन करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"नाड़ियों का शोधन कैसे करे महाराज ?"

भगवान् बोले—पहिले वायुको स्वाँस के द्वारा खींचकर पूरक करे। भरने का नाम पूर्ण करना है। जब वायु भर जाय तो घड़े की भाँति उस भरी हुई वायुको रोके, तदनंतर उसे छोड़ दे, रेचन करदे। पहिले स्वासायाम करे पुनः प्राणायाम करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! स्वासायाम क्या और प्राणायाम क्या ?"

भगवान् बोले—"स्वासायाम कहते हैं स्वासके व्यायाम को। नासिकाओं के छिद्रों द्वारा जो स्वास प्रस्वास लेते हैं उन्हीं से पूरक कुंभक और रेचक करे। पहिले दाहिने नथुने से पूरक करे दोनों को बंद करके कुंभक करे और बाँयें नासिका छिद्र से रेचक करे अर्थात् उस छिद्र से वायु को निकाल दे। ऐसा करने से हृदय की नाड़ियाँ शुद्ध हो जायँ तो फिर प्राणायाम करे। मुखसे हम जो खाते हैं पीते हैं, वह सब अन्न जल एक नली द्वारा पक्वाशय में चला जाता है, अन्न जल के साथ उसमें वायु भी चली जाती है। जब पेट भर जाता है तो डकार आती है। डकार क्या है प्राणवायु सूचना देती है, कि पेट भर गया। जिस मार्ग से भीतर से डकार निकलती है उसी मार्ग से बाहर से भीतर वायु को लेजाय। प्रथम-प्रथम वायु टिकेगी नहीं। ज्योंही तुम भरोगे त्योंही डकार की भाँति तुरन्त निकल जायगी। इसका कारण यह है, कि पक्वाशयकी जितनी नाड़ियाँ हैं वे सबकी सब मलावृत हैं, ज्यों-ज्यों बाहर की वायु पाकस्थली में प्रविष्ठ होगी त्यों-त्यों वह समस्त नस नाड़ियों में विशेष संचार करके उसके मलको एक स्थान पर संचित करेगी। हृदय के ऊपर कफ का स्थान है इसलिये शरीर का जितना विकृत कफ है वह मुखसे द्वारा निकलेगा। नाभिके नीचे वायु और मलका स्थान है। जितना संचित मल है और

अशुद्ध वायु है वह अपान वायु बनकर मलद्वारसे निकलेगा। उस समय अपान वायु बड़े वेग से शब्द करती हुई निकला करेगी। नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं उसकी मोटी पहिचान यह है कि वायु को बाहर से ले जाय और वह पेट में जाकर पच जाय तुरन्त वही वायु अपान बनकर मलद्वार से निकल जाय तो समझलो नाडियाँ शुद्ध हो गयी। फिर पीई हुई वायुको अपान मार्गसे भी न निकलनेदे उसे शरीर में ही पचावे। ऐसी दशामें फिर साधकको आहारकी बहुत आवश्यकता नहीं रहती। वायुही आहार हो जाती है, थोडा बहुत अन्न चला जाय उसी से काम चल जाता है। नाडी शुद्ध हो जाने पर शरीर कृश हो जाता है, मुखमंडल पर तेज स्पष्ट झलकने लगता है। शरीर नीरोग बन जाता है। जिह्वालोलुपता नहीं रहती। वाणी बडी मधुर हो जाती है, मलमूत्र दुर्गन्धि हीन और सूक्ष्म होता है। इस प्रकार जब नाडियों की शुद्धि हो जाय, तब ध्यान करे। ध्यान दो प्रकार का होता है, एक सगर्भ दूसरा अगर्भ।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! सगर्भ और अगर्भ ध्यान कैसा ?"

भगवान् ने कहा—"जिसमे मेरे साकार रूप का चिन्तन हो उसे सगर्भ ध्यान कहते हैं और जिसमें मेरे निराकार रूप का ध्यान हो उसे अगर्भ ध्यान कहते हैं। इसी प्रकार प्राणायाम भी सगर्भ और अगर्भ है, ओंकार सहित सगर्भ है और ओंकार रहित अगर्भ है। प्रथम प्राणायाम द्वारा निरन्तर होने वाली प्रणव ध्वनि को श्रवण करें। हृदय में निहित कमलनाल सदृश ओंकार को प्राण के द्वारा ऊपर ले जाकर उसमें शब्द की कल्पना करें। जब तक चित्त चंचल रहता है, तब तक वह ध्वनि सुनायी नहीं देती। जब चित्त की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर उनको उस ध्वनि

मे लगा दे तो उस स्वर मे घण्टानाद को स्थिर करे अर्थात् ऐसा अनुभव करे कि घण्टा बज रहा है। उस शब्द में जब मन रम जायगा तो प्राण स्थिर हो जायँगे। प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल तीनों समय दश-दश प्राणायाम करे और उस शब्द को सुने। ऐसा करने से नाड़ी शुद्धि के अनन्तर लगभग एक मास मे ही साधक प्राणवायु को जीतने मे समर्थ हो सकता है, तभी उसका मन स्थिर होने लगेगा। मन को स्थिरता होने से ध्यान लगेगा।"

उद्धवजीने पूछा—"ध्यान कैसे करे भगवन् !"

भगवान् बोले—"अन्तःकरणमे एक हृदय कमल है, वह आठदल वाला है, उसका मुख नीचे है और बन्द है। ध्यानके समय ऐसा अनुभव करे कि वह ऊपर होकर खिल गया है। उस आठ पंखुड़ियों वाले खिले हुए कमलमे मेरा ध्यान करे। आठ पंखुड़ियोंके बीचमें जो स्थान है, उसे कर्णिका कहते हैं,जिसमे जीरेकी भाँति पीली पीली केसर होती है। उस कर्णिका पर ही मेरे मनोहर रूपका ध्यान करे। ऐसा अनुभव करे कि उस कर्णिका पर आसन बिछा है। आसन भी सूर्य,चन्द्र और अग्निका है। प्रथम गोल सूर्य का मंडल है, द्वितीय गोल चन्द्रमा कामंडल है उसके भीतर त्रिकोण अग्निका मंडल है उस अग्नि मंडल के मध्यमें अँगूठेके पोरके सदृश अत्यन्त तेजस्वी मेरे रूपका ध्यान करे। ऐसा अनुभव करे कि मेरा ध्यान समस्त शोक मोह और चिन्ताओं को दूर करनेवाला तथा परम मङ्गल प्रद है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! आपके कैसे रूपका ध्यान करे ?"

भगवान् बोले—"उस समय साधक मेरी परम मनमोहनी मूर्तिका स्वयं ध्यान करे। ऐसा अनुभव करे मानों मेरे अंग प्रत्यंग रूपानुरूप हैं, जैसे सुन्दर सुडौल सुहावने और सुघर हैं वैसा ही सब अङ्गोंका ध्यान करे। प्रथम मेरे मुकुट युक्त काले काले घुँघराले

बालोंसे सुशोभित सिरका ध्यान करे, पुनः चंदनचर्चित मनोहर मस्तक का। अनुपम अद्भुत आननका ध्यान करे, जिस पर मंद मंद हास्य छिटक रहा है। मेरो काली काली सुन्दर कृष्ण वर्णकी कमानके समान भौंहो का ध्यान करे, तदनंतर उत्फुल्ल कमलके समान बड़े बड़े नयनोंका ध्यान करे, जिनमे से कृपाकी किरणें सदा निकलती रहती हैं, जिनमें से निकली दृष्टि शरणागतों पर अनुग्रह की वृष्टि रहा करती है। पुनः उन सुचिक्कड़ गोल गोल आरसीके समान लोल कपोलों का ध्यान करे जिनमें साधकको अपना स्वरूप दिखाई देता है। फिर घुँघराला अलकोंसे आवृत उन श्रवणोंका ध्यान करे जिनमे मकराकृत कुंडल हिल हिल कर संसारी संतापोंसे संतप्त प्राणियों को आश्वासन दे रहे है। तदनंतर उस नासिका का ध्यान करे जिसमे नखेसर झोटाखारही है और जिन नासिका-पुटोंसे अमृतमयी स्वाँसे निकलकर संसारके अमंगलका नासकर रही हैं। तदनन्तर सुन्दर शुभ्रस्वच्छ दन्तावलीसे युक्त मुखका ध्यान करे जो दो ओष्ठ और अधरोंसे आकृत है, मंदहास्यके कारण जो कुछ कुछ खिला है और ताम्बूलकी लालिमासे कुछ कुछ अरुण हो रहा है, तदनन्तर ओठ और उन गुद गुदे रस भरे बिम्बा फल के समान अधरोंका ध्यान करे जिनके अमृतका पान करनेके लिये गोपाङ्गनायें सदा व्यग्र बनी रहती हैं। जो रससे इतने परिपूर्ण हैं, कि तनिक सी ठेसलगते ही जिनमेंसे सुधारस छलकने लगता है। फिर उस चुबकका ध्यान करे जिस पर बैठा एकाकी तिल हँस रहा है, जो कृपण हृदयवालों को भी आश्वासन दे रहा है। उसके नीचे शंखके समान चढ़ाव उतारकी उस ग्रीवाका ध्यान करे अत्यन्त

मनोहर है, जिसमे वनमाला पडो है, पुनः उन विशाल मासल कन्धाका ध्यान करे जो सिंह शावकके समान सुन्दर और सुडोल हैं। जिनमेसे शाखाके सदृश दो दो बाहुएँ निकली हुई हैं। फिर उन विशाल बाहुओंका ध्यान करे जो जानु पर्यन्त लटकी हैं जिनके बीचमे बाधकर ब्रजाङ्गनायें कृतार्थ हो जाती हैं, और भक्तोके लिये जो वरद हैं, जिनमे शंख, चक्र, गदा, पद्म ये उत्तम आयुध सुशोभित हैं। बाजूबन्द कंकड तथा अंगुलीय आदि आभूषणोंसे युक्त हैं, मेरा सम्पूर्ण शरीर तो श्याम वर्णका है, किन्तु नयनोकी कोर, कपोलाका मध्य, अधर और ओष्ठ हाथकी हथेली, नख तथा पद-तल ये रक्तवर्णके हैं। बाहुओंके अन्तर मेरे वक्षः स्थलका ध्यान करे, जो एक मात्र लक्ष्मीके रहनेका स्थान है। जिसमें श्रीवत्सका चिन्ह सुशोभित है, जो विप्रपादसे लक्षित है और विशाल तथा विस्तृत है, जिसपर हार, कठा, कौस्तुभमणि तथा वनवाला शोभा पा रही है, उभरे हुए स्तनद्वय गाढ़े गाढे चंदनसे चर्चित हैं, जिसकी की सुगंधि लेनेके लिये गोपाङ्गनायें व्यग्र बनी रहती हैं और जिसमें अपने वक्षःस्थलको सटाकर विह्वल और आत्मविस्मृत बन जाती हैं। फिर मेरी गंभीर, गोल, नाभिका ध्यान करेजो स्वास प्रस्वाससे निरन्तर उठती बैठती सी प्रतीत होती है, फिर मेरी कटिका ध्यान करे जिसमें विद्युत्के समान चमचमाता हुआ रेशमी पीताम्बर बँधा है, जिसके ऊपर रुनझुन रुनझुन करती हुई करधनी हिल रही है और पीताम्बरसे आवृत स्थूलनितंबोंकी शोभा बढा रही है, फिर मेरी जंघाओंका ध्यान करे जो सुडौल और कदलीके वृक्षके समान चिकनी है जो पीताम्बरसे आवृत

है तदनन्तर घुटनोंका और पिंड़रियोंका ध्यान करे। फिर नूपुर युक्त मेरे दोनों चरणोंका ध्यान करे जो भक्तोंके सर्वस्व हैं। जिनकी रजके लिये ब्रह्मादिदेव सदा लालायित बने रहते हैं। जिनके नखोंसे प्रकाश निकलकर साधकोंके हृदयान्धकारको निरन्तर मेटता रहता है।

इसी प्रकार विभिन्न आभूषणोंसे युक्त सर्वाङ्ग सुन्दर हृदय-हारी अति सुकुमार मेरे मधुरातिमधुर रूपका ध्यान करे उसीमें चित्तको लगा दे। यही ध्यान पराकाष्ठा है, यही परिपक्व होकर समाधिरूपमे परिणित हो जाता है, उस समय साधकको मेरे अतिरिक्त किसीका भी कुछ भी चिन्तन न करना चाहिये उसकी दृष्टिमे मेरे मनहररूपके अतिरिक्त कोई चिन्तनीय वस्तु ही नहीं रह जाती।

सगुण उपासकके अतिरिक्त जो निर्गुण उपासक हैं, उन्हे मेरे इस रूपका ध्यान साध्यरूपसे नहीं साधन रूपसे चित्त स्थिर करनेकी भावनासे करना चाहिये। उनका रूपमे तो अनुराग है नहीं। वे तो अरूपके उपासक हैं,इसलिये ऐसे साधकोंको भी प्रथम मेरी साकार मूर्ति का ही ध्यान करना चाहिये। देह एक रथ है,इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। मन लगाम है, बुद्धि सारथी है। जीव ही रथी है। प्राप्य स्थान मैं हूँ। इन्द्रियाँ स्वभावसे विषय रूपी बीहड़ वनकी ही ओर बढ़ती हैं। अतः बुद्धिरूपी सारथी की सहायता से मनरूपी लगामको खींचकर इन्द्रियरूपी जो घोड़े हैं, उन्हे संसारकी ओर न जाने देकर मेरी ही ओर बढ़ाना चाहिये, सर्वाङ्ग सुन्दर मेरे समीप ही इस शरीररूपी रथकी सहायतासे पहुँच जाना चाहिये। मैं ही गन्तव्य स्थान हूँ, मैं ही काष्ठा हूँ, मैं ही परागति हूँ।

निर्गुण उपासक पहिले तो सब ओरसे चित्त हटाकर मेरे सुन्दर सर्वाङ्गोंमे मनको लगावे। फिर सर्वाङ्गोंसे खींचकर

चरणमें, हृदयमे या मुखमे एक ही स्थानमें मनको स्थिर करे अर्थात् एक ही अङ्गका ध्यान करे। जब एक अङ्गमें मन स्थिर हो जाय, तब मेरे मंद मंद मुसकान युक्त मुखारविन्दमें ही मनको लगा दे। जब मुखारविन्दमें भलीभाँति चित्त स्थिर हो जाय तो फिर उसे वहाँसे भी हटा ले और बिना रूपके आकाशमें उसे स्थिर करे। जब आकाशमें मन स्थिर हो जाय, तो फिर मेरे शुद्ध सच्चिदानन्द निर्गुण रूपका ध्यान करे।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! जब निर्गुण ही है, उसका कोई रूप ही नहीं तो उसका ध्यान कैसे करे। अरूपका ध्यान कैसे हो ?"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! यह विषय अत्यंत कठिन है, देहधारीके लिये अरूपका ध्यान करना सहज नहीं अत्यंत कठिन है। यहाँ रूपसे तात्पर्य ज्योतिसे है। निर्गुण उपासक ज्योतिका ध्यान करते हैं, देहकी परिछिन्नताको मेटकर अपरिछिन्नमें उसे मिला देते हैं, जैसे अग्निकी एक चिनगारी है, उसे लेजाकर प्रज्वलित महान् अग्निमें मिला दिया, वह अल्पाग्नि अपना नाम-रूप छोड़कर महाग्निमें विलीन हो गयी, एक बिन्दु जल है उसे सिन्धु में छोड़ दिया उसने अपना नाम, रूप पृथक्त्व त्याग दिया। उसी प्रकार चित्तके वशीभूत और स्थिर हो जानेपर फिर द्वैत नहीं रहता साधक अपने में मुझको और मुझ सर्वात्मामें अपनेको ही देखता है। यह सब पढ़ने सुनने और तर्क वितर्क करने की बात नहीं। शास्त्रार्थका विषय नहीं। वाणीका विलास-मात्र नहीं है। यह अनुभवकी वस्तु है। तीव्र ध्यान योगके द्वारा चित्तका संयम करनेवाले योगीके चित्तका द्रव्य, ज्ञान और कर्म सम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।"

उद्धवजीने कहा—'भगवन्! मेरी बुद्धिमें यह बात आई नहीं। द्रव्य, ज्ञान और कर्म सम्बन्धी भ्रम किसे कहते हैं।"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! यह सृष्टि संकल्पसे ही है, मनके माने हार है मनके माने जीत। जितना भी हम कुछ देख रहे हैं, अनुभव कर रहें हैं अथवा कर्म कर रहे हैं, सब मनसे कर रहे हैं, मन दो प्रकारका होता है, शुद्ध मन और अशुद्ध मन। अशुद्ध मन ससारका रूप है और शुद्ध मन मेरा रूप है, अशुद्ध मन ससारको प्राप्त कराता है, शुद्ध मन मुझ तक पहुँचाता है। समाधि पर्यन्त समस्त साधन अशुद्ध मनको शुद्ध बनानेके निमित्त ही हैं अशुद्ध मन जो पाँच भौतिक पदार्थोंको देखता है, वह भी भ्रमवश देखता है। कोई सुन्दरी स्त्री दिखायी देती है, वह बडी आकर्षक और मनमोहक दीखती है। वास्तवमें देखा जाय तो न उसमे कुछ आकर्षण है न सौन्दर्य भ्रमवश वह हमे सुन्दरी दिखायी देती है, हमारा अशुद्ध मन उसमें वासना के अनुसार भ्रमसे प्रियत्वका कल्पनाकर लेता है। इसी प्रकार हम ससारमे धन कमानेके लिये कितना घोर परिश्रम करते हैं, कितनी कठिन कठिन क्रियायें करते हैं, समुद्रोंका पेट चीरकर सात समुद्र पार जाते हैं, विषयोंको एकत्रित करनेके लिये न करने योग्य कामोंको भ्रमवश करते हैं। हमें आशा रहती है इस क्रियाके करनेसे सुख होगा। उस क्रियाके करने पर भी जब सुख नहीं होता तो हम भ्रमवश समझते हैं हमने सावधानी से क्रिया नहीं की फिर उसमें जुटजाते हैं, इसी प्रकार भ्रमवश विषयोंमें निरत रहते हैं। जो क्रियायें करते हैं भ्रमके वशीभूत होकर करते हैं। अशुद्ध मनसे हम जो निश्चय करते हैं वह भ्रमवश ही करते हैं। छोटा बालक है, उसने भ्रमवश यह निश्चयकर लिया है, खिलौनाकी प्राप्तिमे ही सुख है वह उसे ही सुख समझता है, उसके खिलौनेको कोई तोड दे तो वह बडा दुखी होता है।

युवक युवतियोंका निश्चय है कि दाम्पत्य प्रेम ही सुखका साधन है इसी प्रकार सबने भ्रमवश अपने सुखके सम्बन्धमें एक निश्चय कर रखा है। इस ध्यान योगसे वे तीनों प्रकारके भ्रम-द्रव्य सम्बन्धी अर्थात् भौतिक भ्रम-क्रिया सम्बन्धी अर्थात् करे जानेवाले कर्मोंमें भ्रम और ज्ञान सम्बन्धी अर्थात् सुखके सम्बन्धमें निश्चय किया हुआ भ्रम ये तीनों ही इस तीव्र ध्यान योगके द्वारा नाश हो जाते हैं और योगी भ्रमसे रहित होकर यथार्थ ज्ञानी हो जाता है।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, महाराज ! अब मेरी समझमें बात आगयी। अब यह मुझे एक बात और पूछनी रही। साधक को आगे पीछेकी सभी बातें सोच लेनी चाहिये। पूर्वपक्ष परपक्ष सब ही सोच लेना चाहिये। कोई साधक साधना कर रहा, व्रत करता है, मौन रहता है, जप करता है, किन्तु इन्द्रियों पर विजय नहीं कर सका है, उसकी साधना किस काम आवेगी।"

भगवान् बोले—"उस अजितेन्द्रिय की साधना वृत्ति बन जायेगी। पेटभरने की आजीविका हो जायगी।"

उद्धवजीने कहा—"मान लिया साधक जितेन्द्रिय है शान्त दान्त और समचित्त वाला है, उसको तो कोई विघ्न नहीं होता।"

भगवान्ने कहा—"ऐसे शान्त, दान्त और समचित्त साधक के सम्मुख सिद्धियाँ आती हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"सिद्धि कितनी हैं और किस-किस धारणासे कौन कौन सी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, कृपा करके आप मुझे इन सब बातों को बता दें। क्योंकि आप ही सब सिद्धों को सिद्धि देनेवाले हैं सब सिद्धियाँ आप के ही अधीन हैं।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"उद्धव ! सिद्धियाँ बहुत हैं, उनके भेद भी बहुत हैं अब मैं तुम्हें उन सबके सम्बन्ध में बताता हूँ, तुम सिद्धियों के सम्बन्ध में सावधान होकर सुनो।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी से सिद्धियों का वर्णन किया है उसे मैं आप सबको सुनाता हूँ, आप इसे ध्यान से श्रवण करें।

छप्पय

भाल, नयन, मुख हृदय, नाभि, कटि, उरुचरन तल।
सुघर मनोहर निरखि करै थिर मनकूँ शुभ थल॥
केवल मुखकूँ ध्याइ अन्त महँ ताकूँ त्यागै।
निराकार निरबीज चित्त आत्मा महँ लागै॥
समुझै आत्मा सर्वगत सबकूँ मोमें मोइ सब।
ज्ञान कर्म अरु द्रव्य भ्रम, योगी को नसि जाइ तब॥

सिद्धियों के सम्बन्ध में

(१२६७)

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥*
(श्रीभा० ११स्क० १५अ० ३श्लो०)

छप्पय

योगी ध्यावे मोइ सिद्धि सब तिहि ढिंग आवें ।
उद्धव बोले—"नाथ ! सिद्धिके भेद बतावें ॥
हरि बोले—"सबसिद्धि अठारह मुनिनिगिनाईं ।
तिन महँ दश हैं गौण आठही मुख्य बताईं ॥
अणिमा महिमा अरु लघिम, आश्रय इनको देह है ।
प्राप्ति सिद्धि उत्तम कही, इन्द्रियजाको गेह है ॥

योग साधनमें सिद्धियोंको विघ्न बताया गया है। वास्तव में सिद्धियाँ हैं भी विघ्नरूपा ही, ये आगे बढ़ने से साधकको रोकती हैं जैसे कोई विद्यार्थी है, वह पढ़ने जा रहा है, मार्ग में उसे कुछ मित्र मिले उन्होंने कहा—"चलो, खेल तमाशा नाटक देखें लड़का

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव धारणा योग के पार जानेवाले ऋषियों ने सिद्धियों की संख्या अठारह बतायी है। इनमेंसे आठ मेरी प्रधाना शक्ति और दश गुणोंके उत्कर्षसे प्राप्त होती हैं।"

लडका उनकी मात मानकर पढना छोडकर खेल तमासे मे चला गया। वहाँ उसका मनोरञ्जन भी होता है, उसे अच्छाभी लगता है, चित्त बहल जाता है, किन्तु उसका मुख्य लक्ष्य तो छूट गया। वह अपने ध्येयसे तो पिछड गया। यदि उसे खेल देखनेका व्यसन पड गया तब तो उसका पढना लिखना छूट ही जायगा, यदि वह बीचमे ही सम्हल गया खेल से चित्त हटाकर फिर उसने पढने मे मन लगा लिया तब तो कोई बात ही नहीं। दो दिन खेलकूद और मनोरञ्जनमे बीत गये सो बीत गये आगेके लिये वह सावधान हो जायगा और अपनी परीक्षामे उत्तीर्ण हो जायगा। इसी प्रकार भगवान् की ओर बढने वालेको पहिले आधिव्याधि संशय प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि विघ्न दबाते हैं उनसे भी पार होजाय तो स्त्री पुरुष अपनी ओर अत्यधिक आकर्षित होते हैं इन लौकिक चमत्कारो मे आगे बढे तो उसके सामने दिव्य सिद्धियाँ आती हैं। सिद्धियोंका यदि साधनमे कोई उपयोग है तो इतना ही कि उन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जाता है, कि हम साधन मे आगे रहे हैं। क्षुद्र साधक के सम्मुख सिद्धियाँ नहीं आती जो इन लौकिक पदार्थों से आगे बढेगा सिद्धियाँ उसी के सम्मुख आवेंगी। उनमें जो फँस गया वह फँस गया उसकी आगे की गति रुक गयी, वह इसी मायिक जगत्मे बंधा रहा। जो इन्हें पार करके आगे बढ गया वह प्रकृति मडल को पार करके परमात्मा के मण्डलमें पहुँच गया जहाँ माया की पहुँच नहीं। मोहकी जहाँ दाल भी नहीं गलती पुनर्जन्म की जहाँ चर्चा भी नहीं।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियों! जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी के पूछने पर उन्हें सिद्धियो के सम्बन्ध मे उपदेश दिया उसका साराश मैं आप सबको सुनाता हूँ।" भगवान् ने कहा—"उद्धव! सिद्धियाँ अनेक हैं। साधारण

मानव स्वभावसे जो ऊँची बातें हैं सभी सिद्धियाँ हैं, किन्तु उनमें अठारह मुख्य मानी गयी हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! वे अठारह सिद्धियाँ कौन कौन सी हैं ?"

भगवान्ने कहा—१-अणिमा २-महिमा ३-लघिमा ४-प्राप्ति ५-प्राकाश्य ६-ईशिता ७-वशिता ८-प्राकाम्य ९-अनूर्मिमत्व १०-दूरश्रवण ११-दूरदर्शन १२-मनोजव १३-कामरूप १४-परकायप्रवेशन १५-स्वेच्छामृत्यु १६-देवक्रीडानुदर्शन १७-यथा संकल्प संसिद्धि १८-आज्ञाप्रतिहता तथा अव्याहतसर्वत्र गति ये ही अठारह सिद्धियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुतसी सिद्धियाँ हैं जैसे १-त्रिकालज्ञता, २-निर्द्वन्दता ३-परचित्ताद्यभिज्ञता ४-अग्निस्तम्भन ५-सूर्यस्तम्भन ६-जलस्तम्भन ७-विषस्तम्भन तथा अपराजितता आदि हैं।

उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! इन सिद्धियों का मुझे अर्थ बतावें।"

भगवान् बोले—"अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ती, प्राकाश्य, ईशिता, वशिता तथा प्राकाम्य ये आठ सिद्धियाँ प्रधान हैं। इसीलिये लोग बात-बात पर कहते हैं अजी उनके समीप तो सदा आठों सिद्धि नवों निधि हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। वास्तवमें ये मेरी प्रधाना सिद्धि हैं, ये सिद्धियाँ मुझे स्वभावसे ही प्राप्त हैं, मेरे भक्तोंको भी ये मेरी कृपा से प्राप्त हो जाती हैं। अच्छा पहिले तुम इन आठों के ही सम्बन्धमें सुनो।

१—अणिमासिद्धि—अणिमासिद्धि उसे कहते हैं, कि योगी जब चाहे तब सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप बनाले। उसका स्थूल देह अत्यंत सूक्ष्म बन जाता है जिस योगीको यह सिद्धि प्राप्त होगी उसे आप सात तालों में बन्द कर दो। जहाँ वायु प्रवेशके लिये

भी छिद्र होगा वहीं से वह सूक्ष्मरूप रखकर निकल जायगा। हनुमान्‌जी लंकामें गये थे, तब अपना मशक के सदृश अत्यंत सूक्ष्मरूप बनाकर ही गये थे। रावण के महलों में भीतर बाहर सर्वत्र घूम आये, वे इतने सूक्ष्म बन गये थे कि उन्हें कोई देख नहीं सकता था।

२—लघिमासिद्धि—लघिमा सिद्धि उसे कहते हैं कि योगी जब चाहे तब अपने शरीर को इतना हलका बनाले कि वायुके साथ उड जाय। इतना हलका शरीर बनाकर वह आकाशमें उड कर जहाँ चाहे तहाँ उड सकता है अधर में लटक सकता है। कंस मामाकी सभामें जब मैं गया था, तब मामा, बहुत ऊँचे मंच पर बैठे थे, मैं नीचे था, मैं लघिमा सिद्धि के प्रभाव से हलका होकर उड गया और उन्हें लेकर गिर पडा।

३—महिमासिद्धि—महिमासिद्धि उसे कहते हैं कि योगी चाहे जितना अपने शरीर को बढा सके चाहे जितना भारीकर सके। कंस को पकडने के लिये तो मैंने लघिमा सिद्धि का प्रयोग किया जब उसे लेकर गिर पडा तो मैंने अपनी महिमा दिखायी। हनुमान्‌जी के सम्मुख सुरसानाम की एक सर्पों की माता आई उसने अपनी महिमा दिखाई। अपने मुखको योजनों लम्बा बनादिया। हनुमानजी अपने शरीरको दुगुणा बढ़ाते गये जब उसका मुख बहुत बढ गया तो तुरन्त अणिमासिद्धिके प्रभावसे अतिसूक्ष्म होकर उसके पेट में घुसकर तुरन्त निकल आये। मैंने भी जब केशी को मारा तो उसके मुखमें हाथ दे दिया था और अपनी महिमाके प्रभाव से उस हाथ को इतना बढ़ा दिया कि अश्वरूप रखे उस असुरकी स्वाँस ही रुक गयी और वह तुरन्त मर गया। इन तीनों सिद्धियोंका सम्बन्ध शरीरसे ही है। शरीरको सूक्ष्मसे सूक्ष्म, स्थूलसे स्थूल हल के से हल का और भारीसे भारी बना लेना।

४—प्राप्ति सिद्धि—चौथी सिद्धि का नाम प्राप्ति है, इसका सम्बन्ध इन्द्रियों से है। आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा इन इन्द्रियों के विषयों का तुरन्त प्राप्त करलेना। कहीं सुन्दर दर्शनीय पदार्थ है, इच्छा होते ही उसे बुलालेना, कोई श्रवणीय शब्द है, उसे अपने समीप में आह्वान करलेना, कोई सुगन्धित वस्तु है, उसकी सुगन्धि को समीप में खींच लेना। कोई स्वादिष्ट पदार्थ है यहाँ उसका स्वाद ले लेना इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों को इच्छानुसार प्राप्त करा लेना। योगी इसी सिद्धिके प्रभाव से जब चाहते हैं, तब उसी वस्तु को बुलालेते हैं।

५—प्राकाश्य सिद्धि—पाँचवीं प्राकाश्य सिद्धि है। जो भी स्वर्ग आदि पुण्य लोकोंके सुने हुए पारलौकिक सुख हैं अथवा देखे हुए लौकिक सुख है उनका इच्छानुसार अनुभव कर लेना। योगी सोचे मैं इन्द्र हो जाऊँ तो वह तुरन्त इन्द्रासन पर बैठकर स्वर्ग के समस्त सुखों का अनुभव करने लगेगा। इसी सिद्धि के प्रभाव से कर्दममुनि ने देवहुति को समस्त सुखों का अनुभव कराया था।

६—ईशितासिद्धि—छठी ईशिता सिद्धि है। मेरी माया को तथा उसके कर्योंको अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकनेकी शक्ति का नाम ईशिता है ऐसा योगी अपनी इच्छानुसार नवीन सृष्टि रच सकता है, अपने संकल्पसे जो चाहे सो उत्पन्न कर सकता है। जब राजा त्रिशङ्कुको देवताओंने विश्वामित्रके पठाने पर भी सशरीर स्वर्गमें न आने दिया, तब क्रोध करके महर्षि विश्वामित्रने ईशिता सिद्धिसे ही नवीन स्वर्गकी—नवीन सृष्टिकी—रचना कर डाली। देवताओंकी बहुत अनुनय विनय करने पर तथा ब्रह्माजी के आश्वासन देने पर तब उन्होंने अपनी हठ छोड़ी। फिर भी उनके बनाये हुए ग्रह तथा सप्तर्षि अब तक विद्यमान हैं।

७—वशितासिद्धि—सातवीं वशितासिद्धि है। जितने पंच-भूत हैं, तथा पंचभूतों से बने भौतिक पदार्थ हैं, उन्हे अपने वशमें कर लेना तथा स्वयं उनके समीप रहते हुए भी उनमे आसक्त न होना। जैसे भरद्वाज मुनि ने भरतजीके स्वागत सत्कारमें जितनेभी भोग्य पदार्थ थे, वे उपस्थित कर दिये, किन्तु स्वय उनकी ओर आँख उठाकरभी नहीं देखा।

८—प्राकाम्य सिद्धि—आठवीं प्राकाम्य सिद्धि है। अर्थात् इच्छित पदार्थों की चरम सीमाको प्राप्त करलेना। तीनों लोकोंमें उसे कोईभी कभीभी ऐसा पदार्थ न हो जो इच्छा करते ही उसके सम्मुख समुपस्थित न हो जाय। सौभरि ऋषि इसी सिद्धिसे अपनी पचासों पत्नियोंको इच्छानुसार भोग देते थे। मैं भी सोलह सहस्र-एकसौ आठ रानियोंको इसी सिद्धिसे सुखी बनाये रहता था। योगियोको तो ये सब सिद्धियाँ साधनसे मेरी अनुकम्पासे प्राप्त होती हैं, किन्तु मेरे पीछे तो ये स्वभावसे ही लगी रहती हैं।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! ये तो आठ सिद्धियाँ हुईं अब अन्य सिद्धियो के सम्बन्धमें भी मुझे बतावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव! सब सिद्धियोंके सम्बन्धमे तो मैं कह नहीं सकता। अच्छा, कुछ सिद्धियोके सम्बन्धमे और सुनो।

१—अनूर्मिमत्व—"सबके देहमे क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जन्म और मरण व्याधि ये छै ऊर्मियाँ सदा उठती रहती है। जिस सिद्धि से ये ऊर्मियाँ न उठ उसे अनुर्मिता कहते है।

२—दूरश्रवणदर्शन—एक स्थानपर बैठेही बैठे दूरकी बातें सुनलेना, दूरकी घटनाको प्रत्यक्ष देख लेना।

३—मनोजव—मनके सदृश शीघ्रगति हो जाना। अर्थात् जहाँ मन करे तुरन्त वहाँ पहुँच जाना।

४—कामरूप—इच्छानुसार जैसा चाहे वैसा रूप रखलेना। जिसका चाहे रूप धारण करलेना।

५—परकायप्रवेश—दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट होकर अपनी इच्छानुसार उस शरीर से काम करना।

६—स्वच्छन्द मृत्यु—भीष्म की भाँति मृत्यु पर विजय प्राप्त करलेना। अपनी इच्छा के बिना मृत्यु आने ही न पावे।

७—देवक्रीडानुदर्शन—स्वर्गमें देवगण अप्सराओं के साथ कैसे क्रीडायें करते हैं, उसे प्रत्यक्ष देख लेना। नहीं तो देवताओं की क्रीडा साधारण लोगोंको इन चर्म चक्षुओं से नहीं दिखाई देती।

८—यथा संकल्प संसिद्धि—जैसा संकल्प करना उसकी तुरन्त उसी प्रकार सिद्धि हो जाना।

९—आज्ञा प्रतिहता—जिसे जो आज्ञा दे दो उसे वह तुरन्त पालन करे।

१०—अप्रतिहतागति—जिस लोकमें चाहे तुरन्त चले जायँ।

इस प्रकार उद्धव! ये दश सिद्धियाँ सत्वगुणके उत्कर्षसे होती हैं, जिसमें सत्वका अंश अधिक हुआ उसे ये सिद्धियाँ हो जाती हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवान्! इन अठारहोंके अतिरिक्त भी सिद्धियाँ हों उन्हे बतावें।"

भगवान् बोले—"बहुतसी सिद्धियाँ हैं जैसे त्रिकालज्ञत्व—भूत, भविष्य तथा वर्तमानकी सभी बातोंको जानलेना, शीत उष्ण, सुख-दुख, राग द्वेष आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना, दूसरोंके मनकी बातें बिना बताये जानलेना, अग्नि, जल, विष आदिकी शक्तिका स्तम्भन करदेना। इस प्रकार इनके बहुत से भेद हैं।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! ये सिद्धियाँ प्राप्त कैसे होती हैं?"

भगवान्ने कहा—"ये सब सिद्धियाँ धारणा से प्राप्त होती हैं। जहाँ भी मनकी धारणा सिद्ध हो जायगी उसी विषयकी सिद्धि हो जायगी। जैसे तन्मात्राओंमें धारणा करनेमें अणिमा सिद्धि प्राप्त

होती है, महत्तत्वकी धारणासे महिमा, परमाणुकी धारणासे लघिमा, सात्विक अहंकारकी धारणासे प्राप्ति, सूत्रात्माकी धारणा से प्राकाम्य, कालकी धारणासे ईशिता, तुरीयमें धारणा करनेसे वशिता सिद्धि, प्राप्त होती है। निर्गुण की धारणासे प्राकाम्य, श्वेतद्वीपाधिपति मुझमें ध्यान करनेसे अनूर्मिता, नादमें धारणा से दूरश्रवण, सूर्यकी धारणासे दूरदर्शन, प्राणवायुरूपसे मेरी धारणा करनेसे मनोजव, मनमें धारणा करनेसे कामरूप, प्राण-प्रधान लिङ्ग शरीरोपाधिक आत्मामें धारणासे परकाय प्रवेश, प्राणके संयमसे इच्छामृत्यु, शुद्ध सत्वमें धारणा करनेसे सुर-क्रीडादर्शन, सत्यकी धारणासे संकल्पसिद्धि, चित्तकी जिसमें धारणा करलो चित्त उसीके गुणवाला हो जायगा, अग्निमय चित्तको करलो, तो जैसे अग्नि-अग्निको नहीं जलाती वैसेही योगीके शरीरको अग्नि, जल, विष आदि नष्ट नहीं करते। मेरे अवतारोंमें धारणा करनेसे साधक अजेय हो जाता है। इस प्रकार योग धारणाके द्वारा मेरी उपासना करनेवाले साधकको सभी सिद्धियाँ पूर्ण रीत्या प्राप्त हो जाती हैं।"

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी! आप बुरा न मानें तो हम एक बात कहें।"

सूतजीने शीघ्रता से कहा—"कहिये महाराज! बुरा माननेकी कौनसी बात है, मैं तो आपके प्रश्नोंका उत्तर देनेही आपके दिए हुए इस आसन पर बैठा हूँ।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! उद्धवजी तो भगवान्के स्वरूप ही हैं, वे तो इन संकेतोंको समझ ही गये होंगे, किन्तु सच्ची बात यह है कि हमतो कुछ समझे ही नहीं–धारणा क्या होती है धारणा कैसेकी जाती है, आपने जिन जिन वस्तुओंमें धारणा बतायी है, वह कैसेकी जाय। इस विषयको स्पष्ट करके विस्तारसे हमें समझावें।"

सूतजीने कहा—"देखिये महाराज ! यह विषय अत्यंत गूढ़ है, कथाप्रसङ्गमें इसका वर्णन करने लगूँ, तो कथा प्रसङ्ग रुक जायगा। यह सर्वसाधारणके लिये है भी नहीं। मैं भी इसका पूर्णज्ञाता नहीं, किन्तु मैंने गुरु परम्परा से जो इस सम्बन्धमें कुछ सुना है, उसे यथावकाश फिर कभी योग सम्बन्धी मीमांसाकी जायगी, तब कहूँगा। इस समय तो कथा प्रसङ्ग लगानेको मैंने अत्यंत संक्षेपमें इस विषयका नाम निर्देशमात्र कर दिया।"

शौनकजीने कहा—"अच्छी बात है सूतजी ! यदि ऐसीही बात है तो जाने दीजिये हमे सिद्धियों से क्या लेना। कोई एक ऐसी सरल सीधी साधी सिद्धि हमे बतादो जिससे हमारा निस्तार हो जाय।"

इसपर सूतजी बोले—"भगवान्ने सब सिद्धियोंका उपसंहार करते हुए अन्तमें भक्तोंके लिए स्वयं ऐसी सबसे सुन्दर सबसे श्रेष्ठ सिद्धिका उल्लेख किया है, उसके प्राप्त करलेने पर समस्त-सिद्धियाँ स्वतः ही आकर हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं।"

शौनकजीने कहा—सूतजी । उसे ही हमें बताइये। हमतो सारग्राही हैं।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब जिस प्रकार भगवान्ने अपनी भक्तिरूपा सिद्धि बतायी है उसका वर्णन मैं आपसे करता हूँ, आप समाहित चित्तसे इसे ग्रहण करें।

छप्पय

सिद्धि कही प्राकाश्य ईशिता वशिता उद्दव।
दूर श्रवन परकाय प्रविसि तनु सुघर मनोजव ॥
गति आज्ञा अनिवार देवक्रीड़ा अनुदरशन।
अग्नि सूर्य जल गरल आदि वस्तुनिको स्तम्भन ॥
करै धारना जाहि में, होहि सिद्धि तैसी तहाँ।
भक्तियोग बिनु सिद्धि सब, पावैं कामी नर कहाँ?

—:ঃ:—

सर्वसिद्धियों के स्वामी श्यामसुन्दर

(१२६८)

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० १५अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

जितनी होवें सिद्धि जन्म ओषधि अरु तपतैं ।
ते सब पावें भक्त नाम मेरे के जपतैं ॥
सब सिद्धिनि को ईश वेदविद मोहि बतावें ।
तातैं सब तजि चित्त भक्त मम चरन लगावैं ॥
हौं हीं सबमहँ रमि रह्यो, देहुँ सिद्धि सबकूँ सकल ।
मम तजि सिद्धिनि महँ फँसे, मेरी माया अति प्रबल ॥

घड़ा जब तक पूरा भरा नहीं होता तभी तक छलकता है। जहाँ वह पूर्ण हो जाता है, वहाँ उसका छलकना बन्द हो जाता है, परिपूर्ण समुद्र में बाढ़ नहीं आती, क्षुद्र नदियाँ ही वर्षामें बड़े वेगसे

---

*श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! मैं ही समस्त सिद्धियोंका तथा ब्रह्मवादियों द्वारा बताये योग सांख्यका और धर्म आदि समस्त साधनोंका भी हेतु हूँ, स्वामी हूँ और प्रभु हूँ।"

बढती हैं और कुछ ही कालमें उनका उफान शान्त हो जाता है। इसी प्रकार सिद्धियोंके चक्करमें वही साधक पडता है, जिसमें पूर्णता नहीं होती। स्वल्प पाकर ही जो अपनेको कुछ समझने लगता है। जहाँ उसके मनमें यह भाव रचक मात्र भी आया कि हम भी कुछ हैं, वहीं उसकी उन्नति रुक गयी और वह पतनकी ओर अग्रसर हुआ। इसीलिये साधकको कभी भी सिद्धियोंके फन्देमें न फँसना चाहिये। जहाँ मनसे भी सिद्धियों को स्वीकार कर लिया तहाँ मनसे मनमोहन निकल जाते हैं, और सिद्धियोंका अहंकार उनके स्थानको ग्रहणकर लेता है। ससारी लोगोंको सिद्धियाँ भले ही आकर्षक हों साधकके तो पतनका प्रधान कारण ये ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवने भगवान् से समस्त सिद्धियोंकी प्राप्तिका सरल उपाय पूछा तो भगवान्ने कहा—"उद्धव! योग की धारणा करनेवाले योगीको ये सब सिद्धियाँ साधनोंसे प्राप्त हो जाती हैं। जिसने अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने अधीन कर लिया है, जो विषयोंका इन्द्रियोंसे सयोग होनेपर व्याकुल नहीं होता, जिसने धारणा ध्यान और समाधि तीनोंका अभ्यास कर लिया है, प्राण जिसके वशमें हो गये हैं ऐसे योगीको कौनसी सिद्धि है जो प्राप्त न हो जाती हो। यहाँ तक कि नवीन सृष्टि बना सकता है, सम्पूर्ण भुवनोंका शासनकर सकता है।"

उद्धवजो ने पूछा—'तो भगवन्! ये सिद्धियाँ आपकी प्राप्तिमें साधिका हैं? इनके प्राप्त होने पर आप शीघ्र प्राप्त हो जाते होंगे।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे भैया उद्धव! ये सिद्धियाँ मेरी प्राप्तिमे साधिका नहीं अपितु बाधिका हैं। इन सब सिद्धियोंका सम्बन्ध ससार से ही है, ये सब लौकिक सिद्धियाँ हैं। साधकका जितने दिनों तक इनमें मन फँसा रहेगा, उतनाही काल मेरी प्राप्ति मे अधिक लगेगा। कोई इन क्षुद्र सिद्धियोंको पाकर ही कृतार्थ हो

जाते हैं, उनकी आगेकी गति रुक जाती है, उनका पतन हो जाता है। सिद्धियाँ अनेक प्रकारसे प्राप्तकी जाती हैं। बहुत सी सिद्धियाँ जन्मसे ही प्राप्त होती हैं, जैसे कछुआ-मछली के बालकों को जन्म से ही तैरना और जलके भीतर रहना आ जाता है, पत्तियोंके बालकोंको जन्मसे ही आकाश में उडनेकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, चकोर जन्मसे ही अग्निको भक्षण करने लगता है। सिद्धोंको विद्याधरादिको को जन्मसे ही अन्तर्धान आदिको सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। बहुत सी सिद्धियाँ ओषधियों से प्राप्त होती हैं। एक ऐसी गुटिका बनाई जाती है, जिसे, मुखमें रखलो, तुम तो सबको देखोगे, तुम्हें कोई न देख सकेगा। एक ऐसा अंजन तैयार किया जाता है, उसे आखोंमें लगालो तो आकाशमें उडते हुए देवताओंके विमान दिखायी देंगे। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल वस्तु उस अंजनके प्रभावसे दिखायी देने लगेंगी। एक ऐसा लप तैयार किया जाता है, उसे पैरोंमे लगालो और जहाँ का संकल्प करो तहाँ तुरन्त चले जाओ। एक ऐसा तिलक लगाया जाता है कि उस तिलक को लगाकर जिसके सम्मुख चले जाओ, वही वशमे हो जाता है। इसी प्रकार बडे यत्नसे ये ओषधियाँ बनायी जाती हैं। बहुतसी स्वतः ही होती हैं, उन्हे पहिचानना कठिन होता है। गन्धमादन पर्वत पर एक वृक्ष होता है, जिसकी लकडीसे कोई वस्तु बनाकर खालो तो कभी भूख ही न लगे।"

एक बार की बात है, कि एक भेड चराने वाला अपनी भेडोको चराते चराते गंधमादन पर्वतकी एक चोटी पर चला गया, वहाँ उसे भूख लगी। उसके पास खिचडी थी, एक लोटेमे उसने खिचडी चढ़ाई, एक पेडसे लकड़ी तोडकर उसे चलाता रहा, जब खिचडी बनगयी तो उसने उसे खा लिया। उसके खाते ही उसकी क्षुधा पिपासा सब बन्द हो गयी। शरीरमें शक्ति पूर्ववत बनी रही। घर वाले लोग बहुत घबराये। वैद्योंको बुलाया, वैद्य कुछ समझ ही न

सके। कई महीनोंसे उसने कुछ भी नहीं खाया था, फिर भी उसे निर्बलता तनिक भी नहीं था। एक बार कोई मुनि उसी काष्ठको खोजते-खोजते वहाँ आ पहुँचे। घरवालों ने उससे भी कहा। वे समझ गये, कि इसने किसी प्रकार उस काष्ठसे संसर्गित कोई वस्तु खायी है। पूछने पर उसने खिचड़ीवाली बात बता दी। मुनि उसे लेकर उस स्थान पर गये। बहुत खोजा बहुत परीक्षाकी वह काष्ठ फिर मिला ही नहीं। तब मुनिने एक दूसरी औषधिसे उसे वमन करायी और उस वमनकी हुई खिचड़ीको स्वयं खा गये। तबसे उनकीक्षुधा पिपासा शान्त हो गयी। इस प्रकार बहुतसी औषधियाँ बनायी जाती हैं। बहुतसी स्वतः ही मिलती हैं, उनके सेवनसे भी नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

तपस्याके प्रभावसे भी सिद्धियाँ तपस्वीके सम्मुख हाथ जोड़े हुए खड़ी रहती हैं, बहुतसे मंत्रोंके विधि विधानपूर्वक जप अनुष्ठान से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सबकी सब सिद्धियाँ अकेले योग से प्राप्त हो सकती हैं, योगी योगके प्रभावसे बिना औषधि तप और मन्त्र जापके केवल संयम द्वारा धारणा करने से समस्त सिद्धियोंको प्रत्यक्ष कर सकता है, किन्तु योगका जो मुख्य फल— मेरी प्राप्ति करना है, वह तो मुझमें चित्त लगानेसे ही प्राप्त हो सकता है, उसके लिये अन्य कोई साधन नहीं। इसलिये जो मुझे प्राप्त करना चाहता हो, उसे भूलकर स्वप्नमें भी कभी सिद्धियोंके चक्करमें न पड़ना चाहिये। समस्त सिद्धियोंका स्वामी तो एक मात्र मैं ही हूँ, मुझे जिसने वशमें कर लिया, उसके वशमें सिद्धियाँ तो अपने आप ही हो गयीं। जिसने पतिको वशमें कर लिया, उसकी आश्रिता तो उसके वशमें स्वतः ही हो गयीं। जिसने राजाको वश में कर लिया, उसके सेवक तो अपने आप वशमें हो ही गये।

जितने भी योग, सांख्य और धर्म आदि साधन हैं, जितनी अणिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता आदि

छोटी बड़ी सिद्धियाँ हैं, ये सब मेरे ही कारण तो होती हैं, मैं ही इन सबका हेतु हूँ, मैं ही सबका स्वामी हूँ, मैं ही इन सबका प्रभु हूँ, ईश्वर हूँ। अतः मुझमें मन लगानेसे सब सिद्धियाँ बिना प्रयास के बिना बुलाये आ जायँगी।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! आप साधक हैं, साधना है या सिद्धि है।"

भगवान् बोले—"मैं ही सब कुछ हूँ। कर्त्ता भी मैं ही हूँ, कर्म भी मैं ही हूँ और क्रिया भी मैं ही हूँ। जैसे घटमें भीतर बाहर अगल बगल सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है, मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैसे मनुष्य पशु-पक्षी आदिकी देहों मे भीतर बाहर पचभूत ही पंचभूत हैं उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डके भीतर इस ब्रह्माण्डके बाहर मैं ही मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त दूसरा पदार्थ नहीं। मैं ही द्रष्टा हूँ मैं ही दृश्य हूँ और मैं ही सभी क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ रूपसे अवस्थित हूँ। मैं ही बाह्य हूँ, मैं ही आन्तर हूँ। मेरा ही यह विलास है, मेरा ही यह सब क्रीड़ा है, मेरी ही लीला है, अत: मेरे अतिरिक्त किसीके चक्कर में न पड़ो। मेरे अतिरिक्त किसी भी मायिक पदार्थ को सत् मत समझो। उद्धव! अनन्य भावसे मेरी उपसना करने से जो भी प्राप्तव्य वस्तु है, वह सरलता और सुगमतासे प्राप्त हो सकती है। अत जहाँ रहो वहीं मेरी उपासना करो। मायाके आवरणसे आछन्न होनेके कारण संसारी प्राणी मुझे देख नहीं सकते।"

यह सुनकर उद्धवजी रोने लगे और रोते रोते बोले—"प्रभो! अब मैं समझ गया आप साक्षात् अनादि अनन्त और आवरण शून्य हैं। आप परब्रह्म हैं। यह संसार आपसे ही उत्पन्न हुआ है, आप ही ब्रह्मा बनकर सबकी उत्पत्ति करते हैं। फिर विष्णु बनकर आप ही सबकी रक्षा करते हैं, तदनन्तर रुद्र बनकर आप ही सबका संहार भी करते हैं। आप ही सबके आदि कारण हैं। कोई भी छोटा-बड़ा ऊँच-नीच स्थावर-जंगम प्राणी नहीं है,

जिसमे आप न रहते हों, आपका अनुभव तो शुद्ध बुद्धि वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं अशुद्ध बुद्धि वालोंके लिये तो आप सर्वथा दुर्विज्ञेय हैं। जिन्होने समस्त परिग्रहों का त्याग कर दिया है, जो लौकिक सुखोंकी इच्छा नहीं करते, जिनको संसारी विषय विषवत प्रतीत होते हैं ऐसे संयमी ब्राह्मण ही आपकी सर्वात्म भाव से उपासना करते हैं। इतना सब होने पर भी आपकी उपासना कैसे करें आप तो सर्वत्र फैले हुए हैं ?"

भगवान्ने कहा—"उद्धव ! मेरी विभूतियों में मेरा भाव करके महर्षिगण उपासना करते हैं और उन विभूतियों द्वारा ही मैं उनकी समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करता हूँ।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! जिन जिन भावों द्वारा भक्ति पूवक आपकी उपासना करके साधकगण सिद्धि लाभ करते हैं, उन उन भावों को मुझे बताइये। मुझे सरलता के साथ समझाइये, किस भाव से आप की कहाँ उपासना की जाय। यह तो मैं मानता हूँ आप सर्वान्तर्यामी भी हैं, सबके रोम रोममे आप रम रहे हैं अणुपरमाणुमें अनुस्यूत हैं। सब के भीतर छिपकर आप गुप्त रूप से नाना भाँति की लीलायें कर रहे हैं। आप से तो कुछ छिपा नहीं है। किन्तु ये माया मोहित जीव आपको नहीं देख सकते। आप परदेकी आड़मे बैठे इन कठपुतलियोंको स्वेच्छानुसार नचा रहे हैं। फिर भी कहीं कहीं आपका विशेष चमत्कार दिखायी देता है कहीं २ आप सामान्य से विशेष हो जाते हैं। आपकी विशेषता पृथिवी, स्वर्ग, पाताल तथा दसों दिशाओंमें सर्वत्र दिखायी देती है। जिन २ में आपकी विशेषता दिखाई देती है उन्हीं उन्हीं मे आपकी विभूति के दर्शन होते हैं। कृपा करके यह बताइये कि आपकी विभूतियाँ कितनी हैं। मैं आपकी समस्त विभूतियों के विषय में परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। आप से न पूछूँ तो और कहाँ जाऊँ, आपके अतिरिक्त कोई हितोपदेष्टा गुरु भी तो दूसरा नहीं। इसीलिये मैंने सम्पूर्ण तीर्थों

के आश्रय भूत आपके चरण कमल पकड़े हैं। उन्हीं का एक-मात्र आश्रय लिया है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! मेरी विभूति तो अनन्त है, किन्तु उनमें से कुछ का वर्णन मैं तेरे सम्मुख करूँगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी से अपनी विभूतियों का वर्णन किया उसे मैं आगे आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

बोले उद्धव—पुनीं सिद्धि सब नाथ बखानी।
अब विभूति निज कहैं मोइ निज सेवक जानी॥
सुनि बोले विश्वेश—पार्थ तैं मैंने रनमहँ।
कछु विभू तिनिज कही कहँ तिनि धारी मनमहँ॥
जीव, काल, गति, गुन, प्रनव, गायत्री, सुरपति, अनल।
विष्णु नीललोहित, भृगु, मनु नारद कपिला कपिल॥

—•०•—

विभूतियों का वर्णन

(१२६९)

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १६ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

प्रजापतिनि महँ दक्ष अर्यमा हौं पितरनिमहँ ।
दैत्यनि महँ प्रह्लाद वरुन हौं जल वासिनिमहँ॥
ऐरावत, रवि, नृपति, अहिप, यम, कनक, अश्ववर ।
शेष, सिंह, सन्यास, गंग जल निधि, धनु, शङ्कर ॥
गिरिप, मेरु, अश्वत्थ, यव, कार्तिकेय, अज, वृहस्पति ।
मुनिव सिष्ठ, जल, अनल, रवि, मनु शतरूपा, विष्णु यति ॥

संसार में न कोई किसी की वन्दना करता है न कोई किसी की बात मानता है न कोई किसी के शासन में ही रहता है। जहाँ जहाँ भगवान्‌की विभूति दिखायी देती है, वहाँ २ साधारण लोगोंको

---

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! मैं ही इन समस्त भूतोंका सुहृद हूँ, । ईश्वर हूँ और आत्मा हूँ। ये सर्वभूत भी मेरा ही रूप है, इनकी जो उत्पत्ति स्थिति और लय है इन सबका कारण भी मैं ही हूँ। अर्थात् सब कुछ तुम मुझे ही समझो।"

विवश होकर नत हो जाना पड़ता है। यह संसार त्रिगुणमय है, तीनों गुणों से ही इसकी उत्पत्ति है। भगवान् भी गुणों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन रूप रख लेते हैं। भगवान् की विभूतियाँ भी सात्विकी राजसी और तामसी तीनों ही प्रकार की होती हैं। जिस समय जिस गुण का प्रावल्य होता है, उस समय दूसरे गुणोंकी विभूतियाँ दब जाती हैं। हिरण्यकशिपु भी भगवन्‌के पार्षद का अवतार ही था। नारदजी भी भगवान्‌के अवतार हैं, किन्तु जब हिरण्यकशिपु का गुणानुरूप प्रभाव बढ़ा तब नारदजी को भी उससे दबना पड़ा। उसके स्वरमें स्वर मिलाना पड़ा। संसारमें जो भी कुछ हो रहा है, भगवान्‌की विभूतियों द्वारा ही हो रहा है। जिस समय जिस गुणकी आवश्यकता होती है, उस समय वैसे ही गुणों वाली वैसी ही विभूतियाँ उत्पन्न होकर वैसा ही काम करने लगती हैं। अतः साधकको बाह्य दृष्टि भी न करनी चाहिये। सर्वरूपोंमें मेरे स्वामी ही कार्य कर रहे हैं, इसी दृष्टि से जहाँ जहाँ भी तेज, ओज, बल, श्रीकान्ति आदि दिखायी दें उन को मनहीं मन भगवान्‌की समझकर प्रणाम करना चाहिये। करने कराने वाले ही एक मात्र समस्त विभूतियोंके अधिष्ठाता श्रीश्याम सुन्दर ही हैं। उनके अतिरिक्त कोई भी कुछ नहीं कर सकता। बलियों मे बल देने वाले सुन्दरोंमें सौन्दर्य प्रदान करने वाले और गुणियों में गुण स्थापित करने वाले वे विश्वेश्वर हैं। संसार उन्हीं की विभूतियोंसे भरा हुआ है।

सूतजीने मिपारण्य निवासी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—मुनियो ! जब उद्धवजीने भगवान्‌से विभूतियों के सम्बन्धमें प्रश्न किया तो वे कहने लगे—"उद्धव ! तुमने मेरी विभूतियोंके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया, इससे मैं बड़ा प्रसन्न होगया। जो मेरी विभूतियों को समझ लेता है, वह फिर किसीसे राग द्वेष, ईर्ष्या आदि नहीं करता। ईर्ष्या तभी होती है, जब हम अपने को

स्वतन्त्र कर्ता समझते हैं और जिन गुणोंको अपनेमें न्यून देखते हैं, दूसरे में अधिक देखते हैं, तो उसे देखकर मन ही मन ईर्ष्या होती है। जब समझलें कि सब भगवान्‌की विभूति है तब फिर राग, द्वेष क्यों हो। जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है यही प्रश्न मुझसे अर्जुनने किया था।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! अर्जुनने आपसे यह प्रश्न कब किया ?"

भगवान् बोले—"जब कौरव पांडवों का कुरुक्षेत्र में युद्ध होने वाला था, तब उस युद्धमें मैंने पांडवोंका पक्ष लिया था। अर्जुनने मुझसे सारथी बनने की प्रार्थना की थी, मैं उसका सारथी बन गया। जब दोनों सेनाओं की भिड़न्त हुई तब उसने मुझसे प्रश्न किया था।"

उद्धवजीने कहा—'महाराज ! लड़ाईके समय ऐसे प्रश्न करनेकी अर्जुनको क्यों आवश्यकता प्रतीत हुई। वहाँ तो वीरताका प्रश्न करना चाहिये था।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव ! उसे अभिमान हो गया था कि मैं मारने वाला स्वतन्त्र कर्ता हूँ, ये सब मरने वाले हैं। उसकी बुद्धि प्राकृत हो गयी थी, अहंता ममता ने उसे घेर लिया था। स्व परका उसे अभिनिवेश हो गया था। यह मेरे हैं ये पराये हैं ऐसा उसे मोह हो गया था।

उद्धवजीने कहा—"मोहसे और विभूतियोंसे क्या सम्बन्ध ? मोह हो गया था, तो अपनोंकी रक्षा करता, दूसरोंको मार देता।

भगवान् बोले—"यही तो आपत्ति थी, दोनों ओर उसे अपने ही सगे सम्बन्धी दिखायी दिये। इसलिये राज्यके लिये जाति बन्धुओंके वधको बीभत्स बताकर वह युद्धसे उपरत हो गया।"

उद्धवजीने कहा—"उपरत हो गया था तो अच्छी बात थी, आपने उसे फिर युद्धमे क्यो लगाया, युद्ध में लगाया तो विभूतियों का प्रश्न क्यो किया ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे भाई, मैंने उसे सत्य बात बताई, उससे कहा—मारने वाला तू कौन है यह सबतो मैं अपनी विभूतियोंसे क्रीडा कर रहा हूँ, जड गांडीव की क्या सामर्थ्य जो किसी को मार सके। मेरी विभूति होने से ही यह सब को मारनेमें समर्थ होता है।"

तब उसने पूछा—"महाराज ! आपकी विभूतियाँ कितनी हैं।"

मैंने कहा—"भाई ! मेरी विभूतियोंकी तो संख्या ही नहीं, वे तो असंख्य हैं, उनमेंसे कुछ तुम्हें बताता हूँ।" इतना कहकर मैंने उसे अपनी विभूतियों को गिनाया।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! मुझे भी उन विभूतियोंको सुनाइये। अर्जुनसे दसबीस अधिकहीं सुनाना, सुनाने मे कृपणता मत करना।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे भाई, समुद्रके जलको कितनाभी उलीचो उसे सर्वथा रिक्ततो कोई कर ही नहीं सकता। अच्छा मैं अपनी विभूतियो को बताता हूँ। देखो, संसारमें जितने स्थावर, जंगम, उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा मैं ही हूँ, किसीसे पूछो-तुम कौन हो ? तो वह कहेगा "मैं हूँ" अपनेको मैं कहेंगे। वह "मैं" मैं ही हूँ। सभी किसी न किसी से प्यार करते हैं वह प्यार मैं हूँ, सबका सच्चा एकमात्र सुहद् मैं ही हूँ। स्त्री अपने पतिकी आज्ञा मानती है, पुत्र अपने पिताकी आज्ञा मानते हैं सेवक अपने स्वामी की आज्ञा मानते हैं। इन सबमें जो स्वामीपना है वह मैं ही हूँ, सबका सच्चा स्वामी तुम मुझे ही जानना, भला ! जो अपने स्वामीका आदर करे तो समझना वह मेरा ही आदर कर रहा है। ये जो तुम्हें घट, पट पशु,

पक्षी, स्त्री पुरुष मानव मात्र पदार्थ दीखते हैं, सब मेरे ही रूप हैं मैं ही इन सब रूपों में हो गया हूँ। जैसे दूध ही जमकर दही हो जाता है, जल ही जमकर हिम बन जाता है, सुवर्ण ही आकृति भेदोंसे आभूषण कहलाता है आदि में मैं ही अव्यक्त हूँ, बीचमें मैं ही व्यक्त हो जाता हूँ, अन्त में मेरी ही पुनः अव्यक्त संज्ञा हो जाती है। मुझसे ही जगत्‌की उत्पत्ति होती है मुझमें ही स्थित रहते हैं अन्तमें मुझमें ही मिल जाते हैं। अब तुम मेरी विभूतियों को सुनो।

देखो, संसार में सभी कुछ न कुछ प्रगति कर रहे हैं, सभी उन्नति या अवनतिकी ओर बढ़ रहे हैं। कंकड़-पत्थर बढ़ते घटते रहते हैं। समस्त गतिशीलों में जो गति है वह मेरी ही विभूति है मेरा हीरूप है।

संसारमें बहुतसे पदार्थ हैं, जो प्राणियों को अपने अधीन कर लेते हैं। शहदकी मक्खियोंमें एक रानी मक्खी होती है, वह सब मक्खियों को अपने वशमें रखती है वह उड़ती है, तो उसके साथ सभी उड़ जाती हैं। मृग तथा गजोंका यूथपति अपने यूथकी मृगी और हथिनियों को अपने अधीन कर लेता है, बंगालेकी स्त्रियाँ जादूसे पुरुषोंको तोता तथा बकरा बनाकर अपने आधीन कर लेती है। तेजस्वी पुरुष अपने तेजसे नर नारियोंको अपने आधीन कर लेता है, सुन्दर स्त्री पुरुष अपनी सुन्दरतासे सौन्दर्योपासक नर नारियोंको अपने अधीन कर लेते हैं। और भगवान् कालदेव समस्त प्राणियोंको अपने आधीन कर लेते हैं, अतः काल मेरी विभूति है। जितने कलना करनेवाले हैं उनमें काल मैं ही हूँ। और गुणोंमें समता गुण भी मेरा स्वरूप है।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज गुण कितने हैं ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"उद्धव ! जैसे मेरे नाम असंख्य हैं, वैसे ही मेरे गुण भी असंख्य हैं। संसारमे गुणोंसे ही प्रतिष्ठा होती है। सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, कोमलता, शम, दम, तप, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरता, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, सम्मान, निरंकारिता तथा समता आदि सहस्रों गुण हैं, इन सब गुणोंमें समता सर्वश्रेष्ठ है, जिसके मनमें समता है, मानो उसके मनमें मेरा निवास है। समता गुण मेरा ही रूप है, मेरी ही वह विभूति है।"

कुछ गुण तो स्वाभाविक होते हैं, कुछ कृत्रिम गुण भी वाहरसे लाद लिये जाते हैं। जैसे वालक वैसे तो बड़ी चंचलता करता है, किन्तु अध्यापकके सामने बड़ा सरल भोला भाला बन जाता है। जैसे बालकपन में मेरा स्वाभाविक गुण था चंचलता। उसके घर जाना, उसका दही माखन चुराना, उसके घरमें आग लगाना, उसके यहाँका वर्तन फोड़ आना। किन्तु जब मैं अपनी मैया यशोदाके समीप जाता तो बड़ा भोला बन जाता मानों कुछ जानता ही नहीं। तब गोपिकायें हँसते हँसते लोट पोट हो जातीं, कहतीं—"श्यामसुन्दर तुम बनना बहुत सुन्दर जानते हो। कैसे झूठे आँसू बहा रहे हो, किन्तु यह तुम्हारा बनावटी रूप हमें उतना सुख नहीं देता जितना तुम्हारा स्वाभाविक गुण। सो उद्धव ! गुणियों में स्वाभाविकता है, जो उनका स्वाभाविक गुण है वह मैं ही हूँ। गुण युक्त वस्तुओं में सूत्रात्मा रूपसे मैं ही रहता हूँ। अब जैसे पका हुआ अंगूर है उसका स्वाभाविक गुण है माधुर्य। उसमें जो क्रिया-शक्ति प्रधान प्रथम कार्य-मधुरता का अनुभव कराना-यह मेरा ही स्वरूप है।

संसारमें आकाश, सुमेरु, समुद्र तथा और भी बहुतसे महान् पदार्थ हैं, इन सब महान् पदार्थों मे सबसे बड़ा महत्व है, सबसे बड़ी महत्ता है वह मैं ही हूँ।

संसारमें एकसे एक सूक्ष्म जीव है, बहुतसे तो इतने सूक्ष्म कीटाणु हैं कि अणुवीक्षण यन्त्र से भी भली भाँति दिखायी नहीं देते। बहुतसे इतने सूक्ष्म होते हैं कि नासिका की साँस लगते ही मर जाते हैं। इन सब सूक्ष्मोंसे सूक्ष्मोंमें जीव सबसे सूक्ष्म है, जीव से सूक्ष्म कोई नहीं, वह जीव मेरी विभूति हैं। जीव मेरा ही स्वरूप है।

संसारमें ऐसे बहुतसे शत्रु हैं, जिनका जीतना कठिन हो जाता है। उन सब कठिनतासे जीतने वालो मे मन सबसे अधिक दुर्जय है, वह मन मैं ही हूँ।

वेदोंके पढ़ाने वाले बहुतसे ऋषि हुए है अत्रि, गौतम, भरद्वाज, जमदग्नि, वशिष्ठ तथा पराशर आदि अगणित ऋषि मुनि हैं, इन सब में हिरण्य गर्भ रूपसे सर्वप्रथम मैं ही हुआ। कमल नाल पर बैठे हुए ब्रह्माको मैंने ही वेदोंका उद्‌बोधन कराया, इसलिये अध्यापकोंमें आदि अध्यापक हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ।"

वेदोंके असख्यों मन्त्र हैं, उनकी गणना नहीं संख्या नहीं. किन्तु इन सब मंत्रो का आदि कारण प्रणव ही है। प्रणवसे ही समस्त मंत्र उत्पन्न हुए हैं। अतः त्रिवृत ओंकारके रूपमे आदि मंत्र मैं ही हूँ।

अक्षर दो प्रकारके होते हैं स्वर और व्यंजन अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, ये सोलह तो स्वर हैं। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण. त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ, ये छत्तिस व्यंजन हैं इस प्रकार वाम्मन अक्षर हैं। ये सब अकारके बिना उच्चारण नहीं हो सकते। अकार ही आदि अक्षर हैं। अतः

अक्षरों मे अकार मेरी विभूति है अकार मेरा ही स्वरूप है एकाक्षरी कोषमे अकार का नाम वासुदेव बताया है। छन्दोंमे गायत्री छन्द मेरा ही स्वरूप है।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! छन्द कितनेहैं ?"

भगवान् बोले—"भैया ! लौकिक और वैदिक छन्द तो असंख्यों है, किन्तु इनमे गायत्री, उष्णाक्, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप, जगती, पंक्ति तथा बृहती ये सात वैदिक छन्द मुख्य हैं। इन सब में भी गायत्री छन्द सर्वश्रेष्ठ है मेरी ही विभूति है मेरा ही रूप है।"

देवता भी असंख्य हैं, देवताओंके बहुतसे गण होते हैं, उन सब देवताओंके एक राजा होते है वे देवराज या देवेन्द्र कहाते हैं। वे देवताओंके इन्द्र मेरी ही विभूति हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! देवताओंकी भी तो बहुत संज्ञा है। वसु पृथक् हैं, आदित्य पृथक् हैं, रुद्र पृथक्। इन सबमें आपकी विभूति सम्मिलित ही है या पृथक्पृथक् भी हैं ?"

भगवान् बोले—"नहीं, सबमे मेरी पृथक्पृथक् विभूतियाँ हैं, ऐसी कोई जाति ही नहीं जिसमे मेरी विभूति न हो। ध्रुवादि अष्ट वसुओंमें जो अग्नि नामक वसु है वह मेरी विभूति है। धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, भास्कर और विष्णु ये जो बारह आदित्य हैं इनमें विष्णु नाम का आदित्य मेरी विभूति हैं। सब आदित्यों में विष्णु मेरा ही स्वरूप है।"

इस पर शौनक जी बोले—"सूतजी ! यदि विभूति अपचार न हो तो हम एक बात कहें ?"

सूत जी बोले—"हाँ महाराज ! कहिये, प्रश्नोंमे अपचार नहीं होता।"

शौनकजी ने कहा—"हमारा प्रश्न तो है नहीं एक सुझाव है। वह सुझाव यह है कि आप विभूति योगको शीघ्रशीघ्र कह दें।

ऐसे कहेंगे तो न जाने कब तक कहते रहेंगे। अमुकमें अमुक हूँ, इतना कह कर ही समाप्त कीजिये। नमक मिरच उसमें न लगाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! आप युगयुग जीवें। मैं भी यही चाहता था, आपके भयसे नहीं कहा। संभव है आप कह देते कि अब तो आप घास सी काटने लगे। अच्छा तो सुनिये मैं तडाक पडाक समाप्त किये देता हूँ। भगवान्ने भी उद्धवसे शीघ्र ही शीघ्र कहा था। भगवान् बोले–'उद्धव ! मैं ग्यारह रुद्रोंमे नील-लोहित हूँ। ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों और देवर्षियोंमे क्रमशः भृगु, मनु और नारद हूँ। धेनुओंमें कामधेनु, सिद्धेश्वरोंमे कपिल, पक्षियोंमे गरुड, प्रजापतियोंमे दक्ष, पितरोंमें अर्यमा, दैत्योंमे प्रह्लाद,नक्षत्रोंमे सोम और औषधियोंमे सोमलता हूँ। यक्ष राक्षसोंमें कुबेर, गजोंमे ऐरावत, जलवासियोंमे वरुण, तापदीप्त दाताओंमे सूर्य और मनुष्यों में राजा मैं ही हूँ। घोडोंमे उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सुवर्ण, दण्डधारियोंमे यम, सर्पों में वासुकि, नागों मे शेष, श्रृंगी दंष्ट्रियोंमे सिंह, आश्रमोंमे संन्यास, वर्णोंमे ब्राह्मण, तीर्थोंमें गंगा, जलाशयोंमे समुद्र, अस्त्र शस्त्रोंमें दिव्य धनुष तथा धनुर्धरोंमे शङ्कर मैं ही हूँ। निवासोंमें सुमेरु, पर्वतोंमे हिमालय, पेडोंमें पीपल, अन्नोंमे यव, पुरोहितोंमें वसिष्ठ, ब्रह्मवादियोंमे बृहस्पति, सेनापतियोंमें कार्तिकेय, [illegible]ताओंमें अज, यज्ञोंमें ब्रह्म यज्ञ, व्रतोंमे अहिंसा तथा शोधन करने वाले पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा मैं ही हूँ। योगोंमे मनो निरोध, विजय साधनोंमें मंत्रणा, कौशलोंमें आत्म अनात्मविवेक, विद्या और ख्यातियोंमें विकल्प,

स्त्रियोंमे शतरूपा, पुरूषोंमें स्वायम्भुवमनु, मुनियोंमे नारायण, ब्रह्मचारियोंमे सनत्कुमार धर्मोंमें त्याग, अभय साधनोंमें अन्त निष्ठा, गुह्योंमें मधुर-वचन, मौन और जोडाओंमें प्रजापति, सावधान रहने वालोंमे सम्वत्सर, ऋतुओंमें वसन्त, मासोंमें मार्गशीर्ष नक्षत्रोंमें अभिजित् तथा युगोंमे सत्ययुग मैं ही हूँ।

जितने धैर्यवान् मुनि हुए हैं उनमें देवल असित नामक एक मुनि हुए हैं वे मेरे ही स्वरूप हैं। व्यासों में द्वैपायन व्यास, कवियों मे शुक्राचार्य, भगवानों में वासुदेव और उद्धव भागवतो मे तुम मेरा रूप हो। किंपुरुषों में हनुमान्, विद्याधरों में सुदर्शन, रत्नों में पद्मराग, सुन्दरों मे कमलकोश, तृणों मे कुशा, हवियों मे गोघृत, व्यवसायियों में धन सम्पत्ति, छलियोंमे छल, तितिक्षुओं मे तितिक्षा, सात्विकों में सत्वगुण, बलवानों में बल, उत्साहियों मे उत्साह, भगवद् भक्तों में भक्ति पूर्वक निष्कामकर्म, वैष्णव भक्तो की वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा इन नवमूर्ति मे से वासुदेव नामक सर्वोत्तम मूर्ति मैं ही हूँ गन्धर्वों में विश्वावसु, अप्सराओं में पूर्वचित्ति, पर्वतो मे स्थिरता, भूमि में गन्ध, जल में रस, तेजस्वियों मे अग्नि और सूर्य चन्द्र मुझे ही जानो। ताराओं मे प्रभा, आकाश में उसका गुण शब्द, ब्रह्मण्यों में बलि, वीरों में अर्जुन तथा समस्त प्राणियों में उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश मैं ही हूँ। गतियानों में गति युक्तिवादियों मे युक्ति, त्यागियों मे त्याग, ग्रहण करने वालों में ग्रहण आदि दे देने वालों में आनंद और सुखदस्पर्श वालों में स्पर्श मैं ही हूँ। स्वादिष्ट लगने वालों मे स्वाद, सुने जाने वालों मे श्रव-

सूंघे जाने वालो मे घ्राण तथा समस्त इन्द्रियो मे इन्द्रियपना है, वह मैं ही हूँ।

पृथिवो, जल तेज, वायु, आकाश ये पञ्चभूत, अहंतत्व, महत्तत्व जीव, प्रकृति, सत्व, रज, तम और ब्रह्म यह सब मैं ही हूँ। तत्वो की संख्या करना, लक्षणो द्वारा उनकी सिद्धि करना तथा बुद्धि द्वारा उनका निश्चय करना यह सब मेरा ही रूप है। ईश्वर-जीव गुण और गुणी, सब मे रहने वाला सर्वस्वरूप जो भी कुछ कहे सुने और देखे जाते हैं, सब मेरे ही रूप हैं, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

उद्धवजीने पूछा—'महाराज! आप अब अनुमान से अपनी समस्त विभूतियों की गणना बता दो। करोड सौ करोड, पद्म, महा पद्म। सब आपकी कितनी विभूतियॉ हैं?

इस पर भगवान् बोले—"उद्धव! एक गॉव मे कितनी अधिक म भूँ होती है, बहुत से गॉवो का मिल कर एक प्रान्त बनता है, बहुत से प्रान्तोंका बनकर महा प्रान्त बनता है, महा प्रान्तोका मिलकर देश बनता है। बहुत देशो का मिलकर एक वर्ष या खण्ड बनता है। कई खंडों का मिलकर एक द्वीप बनता हैं। इस पृथिवी पर सात द्वीप और सात समुद्र है। सात नीचे पाताल हैं, सात स्वर्ग हैं, चौदह भुवनो का एक ब्रह्माण्ड है, ऐसे असख्यो ब्रह्माण्डों का मैं स्वामी हूँ, कोई गणना करने वाला चाहे तो ब्रह्माण्ड के धूलिकणो की जल बिन्दुओ की संख्या लगा सकता है, किन्तु मेरी विभूतियों की संख्या मैं स्वयं नहीं लगा सकता।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! तब और बहुत बढाना व्यर्थ है आप हमें एक परिभाषा बता दें, जिस के द्वारा यह समझलें कि यह आपकी विशिष्ट विभूति है।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है, उद्धव ! अब मैं गुरुमन्त्र बताऊँगा, जिससे तुम सब में मेरी विभूतियोंको पहिचान सको।"

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जिस प्रकार भगवान्ने उद्धवजी को विभूतियोंके पहिचाननेका प्रकार बताया उसे मैं आप को आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

हौं ही सनत्कुमार त्याग अरु मौन प्रजापति।
सम्वत्सर, सुवसन्त, मास अगहन अरु अभिजित॥
सत्युग, देवल असित, व्यास द्वैपायन भार्गव।
वासुदेव, हनुमान्, सुदर्शन, गोघृत, उद्धव॥
कमलकोश, कुश, पदममणि, गुण सत्वादिक, तेज रस।
पूर्वचित्ति, विश्वावसू, हौं ही सब महँ कीर्तियश॥

—:o:—

भगवत् विभूतियोंकी मुख्य पहिचान

(१२७०)

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥ *

(श्रीभा० ११ स्क० १६ अ० ४० श्लो)

छप्पय

हौं ही ईश्वर, जीव, सत्व, रज और तमोगुन।
प्रकृति, पुरुष, गति, काल, भूमि जल, नभ, रवि त्रिभुवन ॥
कहूँ कहाँ तक तेज, कीर्ति, श्री जहँ जहँ जानो।
पुरुषारथ, बल, कान्ति अंश सब मेरे मानो ॥
अपनी कहीं विभूति कछु सब ये मनोविकार हैं।
परमारथ ये ही नहीं, जगके सब व्यवहार हैं ॥

सम्पूर्ण संसार उन भौमा पुरुषकी विभूति हैं, उन्हींकी विभूति से यह संसार भास रहा है, उनकी विभूति न हो तो न तो दृश्य ही कुछ हो और न दृष्टा ही। वे ही दृश्य बन जाते हैं और दृष्टा बन

---

*भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! देखो, तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पुरुषार्थ, तितिक्षा और विज्ञान आदि उत्तम गुण जिस जिसमें भी हों वह मेरा अंश ही है। ऐसा तुम समझो।"

कर उस दृश्यको देखते हैं और प्रसन्न होते हैं। वैसे तो वे अणुमें परमाणुमें सर्वत्र व्याप्त हैं, किन्तु विशेष-विशेष स्थानोंमें उनकी विशेष रूपसे अनुभूति होती है। जैसे प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है किन्तु जहाँ सत्व जितना ही अधिक होगा प्रकाश उतना ही प्रस्फुटित होगा। पाषाणमेंसे सूर्य दिखाई नहीं देता, क्योंकि तमका आवरण उसमें अधिक है, चिकनी धातुमें से कुछ कुछ दीखताहै, क्योंकि पत्थरकी अपेक्षा उसमें सत्व अधिक है,काँचमें से स्पष्ट दीखता है, क्योंकि उसमें स्वच्छता सत्वकी मात्रा सबसे श्रेष्ठ है। किसी वस्तुकी स्थिति ही भगवान्के विना नहीं हो सकती, किन्तु जहाँ कुछ विशेषता दीखती है, वहीं उनकी विभूति है।

सूतजी कहते हैं—" मुनियो ! जब उद्धवजीने भगवान्से उनकी विभूतियोंकी पहिचान पूछीं तो भगवान् बोले— "उद्धव ! जहाँ तुम कोई विशेषता देखो, वहीं मेरी विभूति समझ लेना। जिस पुरुषमें जिस स्थलमें तुम्हें तेज प्रतीत हो समझना यह इस व्यक्तिका तेज नहीं है, इसमें भगवान्की विभूति आगयी है। किसी तेजस्वी व्यक्तिको देखकर अपने आप सिर झुक जाता है,इच्छा न रहने पर भी उसकी बातें मानने को विवश हो जाते हैं, क्योंकि वह तेज मेरी ही विभूतिका चिन्ह है।

किसीकी अत्यधिक शोभा है, चाहे वह धनकी शोभा हो या तपकी। किसीके यहाँ जाते हैं, उसका घर लिपा पुता, धुला धुलाया स्वच्छ है, वस्त्र सबके सुन्दर शुभ्र हैं, भीतर बाहर स्वच्छता है, सबके मुखोंपर एक प्रकारकी आभा छिटक रही है, यह भगवत् विभूतिका चिन्ह है।

किसी व्यक्तिको लाखों आदमियोंने देखा नहीं है, किन्तु उसकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त है, उसके परोक्षमें भी लोग उसके सम्बन्धकी बातें कहते हैं, उसकी घटनाओंका दृष्टान्त देते हैं, उसके चरित्रोंको बडे चावसे सुनते हैं, उस व्यक्तिकी इतनी कीर्ति क्यों हुई, इसलिये

कि उसमे मेरी विभूतिका अश है। मेरे ही कारण उसकी इतनी कीर्ति है।

किसी किसीका वडा ऐश्वर्य होता है घरमे रहे या वनमे उनका ऐश्वर्य उनका साथ छोडता नहीं। एक सेठ थे, उनका वडा विभव था, वडे ऐश्वर्यशाली थे। लोगोंका कहना था, वे जहाँ भी जाते थे उनका ऐश्वर्य उनके आगे आगे चलता है। एक नास्तिक व्यक्ति था, उसे इस वातका विश्वास नहीं था, वह पुरुपार्थ वादी था। एक दिन किसी काजसे वह उन्हे अकेला ही नौकामे विठाकर यमुनाजीकी बीच धारामे ले गया और वहाँ जाकर वोला"सेठजी! हमने सुना है, आपका ऐश्वर्य आपके साथ ही साथ चलता है, यदि यही बात है, तो आप मुझे यही एक लाख रुपये दें।"

सेठजीने तुरत यमुनाजीमे नीचे हाथ किया और कहा—"भैया,! देना एकलाख रुपया।" उस नास्तिकके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, जब उसने उनके हाथमे एक लाख रुपयेकी थैली देखी। वह उनके पैरों पड गया और वोला—"यथार्थमे आप ही ऐश्वर्य शाली हैं।" सो उद्धव! ऐश्वर्य शालियोमे ऐश्वर्य मैं ही हूँ, जहाँ भी तुम्हें मान् ऐश्वर्य दिखायी दे समझ लेना, यह मेरा ही रूप है।"

वहुतोंकी आखें वडी लजीली होती हैं, स्त्रियोंमे पुरुषोंमें जो मनको हरने वाली लज्जा है, जिस लज्जाको देखकर निर्लज्जोंके हृदयमे भी ठेस लगती है वह लज्जा मेरी ही विभूति है।

वहुतसे लोग इतने त्यागी होते हैं, कि उनके पास जो भी आजाय, तुरन्त उसे दे डालते हैं, वे सग्रह करना भी चाहें तो नहीं कर सकते। दान करते करते जो निर्धन हो जाते हैं। फिर भी जिनकी देनेकी इच्छा नहीं जाती। अथवा अपना सर्वस्व त्यागकर वनमें चले जाते हैं और फिर मनसे भी त्यागी हुई वस्तुओंकी स्पृहा नहीं करते, उन त्यागियोंमे जो त्यागकी वृत्ति है वह मेरा ही स्वरूप है। राजा रघुने अपना सर्वस्व दान कर दिया, वे मिट्टीके

वतनमें सन्ध्या कर रहे थे। उसी समय गुरु दक्षिणाके लिये धन माँगने एक ब्राह्मण आये। राजाकी ऐसी निर्धनता देखकर वह बड़े निराश हुए। पीछे जब राजाको विदित हुआ तो उन्होंने कुबेर पर चढाई करनेकी तैयारी की। राजाके अभिप्रायको समझकर रात्रिमें कुबेरने राजाके धनागारको भर दिया। प्रातःकाल जब कोषाध्यक्ष ने बताया कि धनागार तो सुवर्णसे भरा है, राजाने वह सब धन उस ब्राह्मणको देना चाहा। ब्राह्मण चौदहलक्ष सुवर्ण मुद्रासे अधिक लेना नहीं चाहता था, राजा उसे सर्वस्व देना चाहता था, दोनोंके इस महान् त्यागको देखकर आकाशसे देवतागण पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे। दोनों ओर जो त्याग और सन्तोषकी वृत्ति थी, वह मेरी ही विभूति थी।

संसारमें सौन्दर्य भी एक अत्यन्त आकर्षक वस्तु है, जहाँ भी सौन्दर्य होता है, वहाँ पुरुषों का चित्त स्वाभाविक खिंच जाता है। स्वर्गीय अप्सराओंमें भूमि की वेश्याओंमें सौन्दर्य ही तो होता है, जिसके कारण वे मंगलमुखी मानी जाती हैं। असुरों ने मोहिनी भगवान्‌के सौन्दर्य पर रीझकर ही तो बिना उनका कुल गोत्र जाने अपना सर्वस्व-अमृत उसे सौंप दिया था। कामदेव को भी भस्म कर देने वाले भगवान् भूतनाथ मेरे मोहिनी रूपके सौंदर्यके वशीभूत होकर उसके पीछे भागे। इतने ज्ञानी, ध्यानी विवेकी राजा दशरथ सौंदर्यके ही लोभसे तो कैकेयीके हाथके क्रीडामृग हो गये। व्रजाङ्गनायें मेरे सौंदर्यको देखकर ही तो आत्म विस्मृत हो गयीं। अतः जहाँ जहाँ भी सौंदर्य दिखायी दे उसे मेरी विभूति ही समझनी चाहिये।

सौभाग्य भी संसारमें सभीको प्राप्त नहीं होता। वह स्त्री बडी सौभाग्य शालिनी है, जिसका पति उसे प्राणोंसे अधिक प्यार करता हो, वह पिता परम सौभाग्यशाली है, जिसके पुत्र सदा उसकी आज्ञाका पालन करते हों, वह कन्या परम सौभाग्यशालिनी है

जिसे सुन्दर, स्वस्थ, हँसमुख, युवक और सर्वगुण सम्पन्न कुलीन श्रीमान् पति प्राप्त हुआ हो। वह माता परम सौभाग्यशालिनी है, जिसका पुत्र भगवद् भक्त है, वह देश परम सौभाग्यशाली है, जिसमें भगवद् भक्त का जन्म हुआ हो। उस गृहस्थके सौभाग्यके सम्बन्धमें क्या कहना है, जिसे आतिथ्य सत्कार करनेमें आनन्द आता हो, और जिसके यहाँ सदा अतिथि अभ्यागत आकर सन्तुष्ट होते हों, जिन्हें साधु संतोंकी सेवाका सदा सौभाग्य प्राप्त होता रहता हो इन सबमें जो सौभाग्य है वह मेरा ही रूप है।

बहुतोंको देखा है, वे बड़े पुरुषार्थी होते हैं, सदा कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। वे कभी व्यर्थ नहीं बैठते। कितना भी बुरा स्थान उन्हें दे दो, अपने पुरुषार्थसे उसे सुन्दर स्वच्छ बना देंगे। कैसा भी बिगड़ा हुआ काम उन्हे दे दो, अपने निरन्तरके पुरुषार्थसे उसे बना लेंगे। वह लोग प्रारब्धके भरोसे कभी नहीं बैठते, जब तक सफलता नहीं मिलती तब तक निरंतर पुरुषार्थ ही करते रहते हैं, उन पुरुषार्थियोंमें जो पुरुषार्थ है वह मैं ही हूँ, मेरी ही विभूति है।

बहुतसे तपस्वी गर्मियोंमें पंचाग्नि तापते हैं, जाड़ोंमें जलमें खड़े रहते हैं, वर्षामें मूसलाधार वृष्टिको अपने सिरसे लेते हैं, कोई कटु वचन कहता है उसे सहते हैं. रोग हो जाते हैं तो उन्हें प्रारब्ध का भोग समझकर सहन करते हैं, उनके निवारणकी चेष्टा नहीं करते। सारांश यह है कि वे सब प्रकारके दुःखोंको बिना प्रतीकारके सहन करते हैं, उन सहनशीलोंमें जो तितिक्षा है, वह मेरा ही रूप है।

बहुतसे ज्ञानी होते हैं, उन्हें ब्रह्मका विज्ञान होता है, वे अपने विज्ञानसे इस दृश्य प्रपञ्चको क्षणभंगुर और परिवर्तनशील अनुभव करते हैं, उन ज्ञानियोंमें विज्ञान मैं ही हूँ, अथवा भौतिक विज्ञानमें जो नित्य नये नये आविष्कार होते हैं, वे सब मेरा ही

स्वरूप है। उद्धव! यहाँ तक कहूँ जहाँ भी कुछ वैशिष्ट्य है वहीं मेरी विभूति है।

उद्धवजी ने पूछा—तो भगवन्! हम आपकी इन विभूतियोंका ही चिन्तन किया करें।

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भैया! ये तो मुझे प्राप्त करने के मेरे घरमें प्रवेश करनेके साधन मात्र हैं। तुम इन विभूतियोंको ही परम पुरुषार्थ या परमार्थ मत मान लेना। ये केवल मनोविकार मात्र ही हैं।"

उद्धवजी ने कहा—मनोविकार कैसे हैं, महाराज!

भगवान बोले—"देखो, मैं तुम्हें परमार्थ वस्तु और अपरमार्थ वस्तुकी पहिचान बताता हूँ। जो वस्तु मन तथा वाणीका विषय है वह सब मनोविकार है मायाका पसारा है। यथार्थ जो परमार्थ वस्तु है वह तो मनवाणी का अविषय है, फिर भी इनमें परमार्थ का आभास मात्र है ही। उसी परमार्थकी सत्तासे ये सत्तावान् हैं,अतः इनको ही सब कुछ समझकर प्रयत्न न करना चाहिये। जैसे किसी को दूसरे देशमें जाना है और घोड़ेसे जाना है, किसी ने कह दिया, तुम घोड़ेकी सेवा करोगे, तो वहाँ पहुँच जाओगे। अब वह घोड़े की सेवा तो दिनरात्रि करता है, किन्तु उस पर चढकर चलता नहीं, आगे बढता नहीं, तो उसकी घोड़ेकी सेवा व्यर्थ है। किसी ने कह दिया—तुम धानोंको कूटते रहो तुम्हारी जीवन यात्रा चल जायगी। अब वह धानोंको निरंतर कूटता तो रहता है। किन्तु उन्हें फटककर भूसीको फेंककर चावलोंको निकालकर खाता नहीं, केवल कूटनेमें ही लगा रहता है, तो उसकी जीवन यात्रा नहीं चल सकती। इसी प्रकार मनवाणी के विषय इन विभूतियोंको ही सब कुछ न समझ लेना चाहिये। मनका संयम करके सूक्ष्म बुद्धिको कुशाग्र करे और फिर उसे मुझमें लगादे। जो मनका संयम करते नहीं, मन को तो इधर उधर विषयोंमें भटकने देते हैं। और ऊपरसे बड़े बडे

कृच्छ चान्द्रायणादि व्रत करते हैं, घोर तपस्या करते हैं ज्ञानकी बडी बडी डींगे हाँकते हैं, उनके ये सब कार्य उसी प्रकार बिखर जाते हैं जिस प्रकार फटे वस्त्र मे बधे अन्नके दाने बिखर जाते हैं। किसी ने कहा "मिट्टीके घडेमे जल भरा जाता है।" तुम तुरन्त गंगा किनारेसे चिकनी मिट्टी ले आये उसका घड़ा बना लिया उसमे पानी भर लिया। कुछ क्षण वह जल उसमें भले ही टिक जाय, जहाँ मिट्टी गली कि सब जल निकल जायगा। यह सत्य है, कि जल मिट्टी के ही घडेमे भरा जाता है, किन्तु कच्ची मिट्टीके घडेमें नहीं। घडेको बनाओ उसे थपथपाओ धूपमे सुखाओ अग्निमें पकाओ। जब पक्का हो जाय निच्छिद्र हो तब उसमे जल टिक सकता है। यह सत्य है, कि मेरा ज्ञान मनसे ही होता है, किन्तु संसार व्यवहारमें फँसे रहने वाले अशुद्ध मनसे नहीं होता। संयमकी अग्निमे मनको तपाकर शुद्ध कर लो। प्रथम वाणीको जीतो,अन्य इन्द्रियोंको जीतो, प्राणोंको जीतो अपने आत्माके द्वारा बुद्धिको जीतो, इस प्रकार क्रमश: सभी पर विजय प्राप्त करके आत्म निष्ठ हो जाओ, तब तुम इस ससारके आवागमनसे सदा के लिये मुक्त हो जाओगे, इस संसृतिचक्रसे सदाके लिये छूट जाओगे। फिर जन्म-मरणके चक्करमे न पडोगे।

इसलिये सबका सारांश यह निकला कि पहिले वाणीका सयम करो, समस्त इंद्रियो का संयम करो फिर वाणी, मन प्राण आदिका मेरी भक्तियुक्त बुद्धिसे संयम करो। जो इस प्रकार वाणी, मन, प्राण तथा इन्द्रियों का संयम करके सर्व भाव से मेरी शरण में आ जाता है, इन सबको मुझमे मिला देता है, फिर उसे करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता, वह कृतकृत्य हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है, वह कृतार्थ हो जाता है, जीवन का सर्वश्रेष्ठ फल पा जाता है। यह मैंने तुमसे सक्षेप में विभूतियों के सम्बन्ध में कहा। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो।"

उद्धवजी ने कहा--"महाराज ! अब मुझे वर्णाश्रम धर्म का रहस्य सुनाइये।"

सूतजी कहते हैं--"मुनियो ! जब उद्धवजी ने भगवान् से वर्णाश्रम धर्म का रहस्य पूछा, तो वे उसे वर्णाश्रम धर्म का रहस्य समझाने लगे। अब इसका विवेचन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

उद्धव बोले—मोइ बतावहिँ वर्णाश्रम हरि।
करि जिनको आचरन जाहिँ जगतैं मानव तरि॥
हौ प्रभु सर्वसमर्थ वेद सब तुमरी बानी।
मूर्तिमान हौ धरम कहैं मुनि पंडित ज्ञानी॥
वर्णाश्रम को प्रश्न सुनि, हरि बोले उद्धव कहूँ।
हौं ही चारिहु युगनि महँ, धरम रूपतैं नित रहूँ॥

—:ॐ:—

वर्णाश्रम धर्म रहस्य

(१२७१)

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

आदि कल्प महँ भयो प्रथमसतयुग हौं तामें ।
हस रूप तैं रहौं ध्यान तैं पूजैं तामें ॥
मख तैं त्रेता माहिँ करैं पूजा द्वापर महँ ।
नाम कीरतन करहिँ पाहि प्रानी कलियुग महँ ॥
मुख तैं द्विज, भुज क्षत्र उरु, वैश्य शूद्र ममचरन तैं ।
चारि बरन प्रकटित भये, जानहिँ निज निज करम तैं ॥

समाज में सभी प्रकृति के प्राणी होते हैं सबके समूह का नाम ही समाज है। समाज को अध्यात्म्य, शासन, व्यापार और सेवा इन कार्योंकी आवश्यकता रहती है। जो अपना जीवन

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कहते हैं—"उद्धव! विराट् पुरुष के मुख, बाहु, ऊरू और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण उत्पन्न हुए। इनमें अपना अपना आचार ही इनके वर्णका लक्षण है। अर्थात् ये अपने कर्मों द्वारा ही पहिचाने जा सकते हैं।"

अध्यात्म चिन्तन में बिताते हैं, उनके निर्वाह का भार समाज के ऊपर पड़ता है। उन्हें शरीर निर्वाह के लिये प्रथक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जो समाजका शासन करते हैं, उसे समाजके अन्य लोग कर देते हैं, करके द्वारा वह अपना कार्य चलाते हैं। जो व्यापार करते हैं, वे उसके लाभ से अपना काम करते हैं और जो सेवा परायण हैं, उनका आजीविका का प्रबन्ध वे करते हैं, जिनकी वे सेवा करते हैं। इस प्रकार परस्पर के सह योग से यह समाज रूपी गाडी चल रही है। जब समाज में उछ खलता आ जाती है, सकटता बढ जाता है, तो एक दूसरे की सहायता नहीं करते, स्वधर्म का परित्याग करके परधर्मका अनुस रण करने लगते हैं, जिससे अधर्मकी वृद्धि होती है, जब अधर्म पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। तो एक साथ पलटा खाता है। जिस प्रकार अधर्म शनै शनै बढा था, वैसे होधर्म शनै शनै नहीं बढता। वह तो एक साथ कार्य पलट कर देता है। अभी तक घोर कलियुग है। अधर्म का पूर्ण साम्राज्य है, तुरन्त सत्ययुग आ जाता है। घोर अधर्म से सहसा शुद्ध धर्मका प्रसार होने लगता है। यही क्रम सदा से चल रहा है। धर्म अधर्म दोनों के जनक दोनोंके स्वामी प्रभु ही हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से वर्णाश्रम धर्मके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तो भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! तुम मुझसे ही यह वर्णाश्रम धर्मका प्रश्न क्यो करते हो?"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! और किससे पूछूँ? भगवन्! इस पृथिवी तलकी तो बात ही क्या है, साक्षात् वेद गर्भ ब्रह्माजी की सभा में—जहाँ चारों वेद मूर्तिमान् रह कर उनकी उपासना करते हैं—वहाँ भी कोई आपके इस धर्मका व्याख्याता निर्माता तथा रक्षक नहीं है। अत मैं आपके ही श्रीमुखसे वर्णाश्रम धर्म को श्रवण करना चाहता हूँ। बहुत से लोग वर्णाश्रम धर्मको कर्म

प्रधान ही बताते हैं। यद्यपि वर्णाश्रम धर्मको कर्मकी प्रधानता अवश्य है। किन्तु मैं तो वर्णाश्रमका स्वरूप आपकी भक्तिको ही मानता हूँ, इसलिये मुझे उसी वर्णाश्रमको बताइये जिसके अनुष्ठान से मनुष्योंमें आपकी भक्ति हो सकती हो। आपने ही तो वर्णाश्रम धर्मका उपदेश दिया था।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! मैंने किसको कब वर्णाश्रम धर्मका उपदेश दिया ?"

उद्धव बोले—"भगवन् ! ब्रह्माजी की सभामें जब सनक, सनंदन, सनातन और सनत् कुमार इन चारों ब्रह्मपुत्रों ने अपने पिता कमलयोनि से प्रश्न किये और कर्मकांडमें ही फँसे रहनेके कारण वे कुमारोंके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर न दे सके तब आपने ही तो हंस रूप रखकर उनके प्रश्नोंका उत्तर दिया था। कुमारोंको तथा ब्रह्माजीको आपने जिस उत्तम धर्मका उपदेश दिया था, वही परम्परासे अब तक चला आ रहा था। अपने पिता-प्रपिता तथा गुरुओंसे सुनकर लोग उस धर्मका आचरण करते थे। अब अधर्मके बाहुल्यसे तथा अधिक समय व्यतीत हो जानेसे वह अनुशासन रूप धर्म मर्त्यलोकमें नष्टप्राय हो चुका है। उसका प्रचलन अत्यंत न्यून हो गया है। आप ही इस धर्ममें वक्ता, प्रवर्तक रक्षक तथा प्रसारक हैं। आपकी चेष्टाओंसे प्रतीत होता है कि आप इस धराधाम को त्यागकर अपने लोकको पधारना चाहते हैं। हे अच्युत ! हे मधुसूदन ! आपके स्वधाम पधारने पर इस नष्टप्राय धर्मका उपदेश कौन करेगा, कौन इस अप्रचलित धर्मका पुनः प्रचार करेगा। अतः आप इस भक्ति प्रधान वर्णाश्रम धर्मका मुझे उपदेश दें। किस वर्णके व्यक्तिको, किस आश्रमके आश्रमीको कौनसे धर्मका विधान है, उसे मुख्य किन किन धर्मोंका आचरण करना चाहिये, किन किन कर्मों को करना चाहिये। कृपा करके इसको मुझे बतावें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब उद्धवजी ने भगवान् से आग्रह पूर्वक अत्यंत विनीत भावसे यह प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! तुमने बड़ा ही सुन्दर लोकोपकारी प्रश्न किया। तुम्हारे इस प्रश्नसे धर्मप्रधान पुरुषोंका बड़ा कल्याण होगा, तुम्हारा यह प्रश्न वर्णाश्रमाचारयुक्त सज्जन पुरुषोंके लिये आत्यन्तिक श्रेयः स्वरूप मुक्तिको देने वाला सिद्ध होगा। इसका मैं जो उत्तर दूँगा, उसका जो पालन करेंगे, उनका संसार बन्धन निश्चय ही छूट जायगा। यद्यपि यह मेरा वर्णाश्रम धर्म सनातन है, फिर भी इसका समयके अनुसार क्रमशः विकास हुआ है।"

उद्धवजी ने कहा—"विकास कैसे हुआ है भगवन् ! प्रथम आप मुझे यही बतावें।"

भगवान् बोले—"देखो, उद्धव ! जब कल्पके अन्तमें यह सृष्टि ब्रह्ममें लीन हो जाती है, चारों युग एक एक सहस्र बार जब बीत जाते हैं, तो उसे एक कल्प कहते हैं। उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रलय करके ब्रह्माजी भगवान्के उदरमें सो जाते हैं। उतनीही बड़ी उनकी रात्रि होती है,रात्रिके बीत जाने पर वे पुनः सृष्टि आरंभ करते हैं। उस समय अधर्म छिपा रहता है, शुद्ध सत्वगुण का प्राबल्य होनेसे सबकी बुद्धि शुद्ध होती है, सब मनुष्य भीतर बाहर से विशुद्ध रहते हैं। उस समय न तो मैं मेरा तू तेराका भाव रहता है, न किसी वस्तु में स्पृहा होती है, सबकी धर्ममें मति होती है। सब अपनेको उस जगत्पिताका पुत्र समझते हैं, सब प्रेम से रहते हैं। उस समय एक ही वर्णके सब लोग होते हैं, उन्हें चाहें ब्राह्मण कहलो, पावन कहलो या धर्मात्मा कहलो। ज्ञान स्वरूप शुद्ध होनेसे उनकी 'हंस' संज्ञा शास्त्रोंमें बतायी है। कल्पके आरम्भके सत्ययुगमें एक हंस ही वर्ण था। कोई न तो उस समय घर बनाता था, न अपना किसी वस्तु पर अधिकार ही जमाता था। आजीविकाके लिये किसीको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता

था। सबका चित्त शुद्ध होनेसे सबके पास संकल्प सिद्धि थी, जिस वस्तुका संकल्प करते तुरन्त वह आ जाती। वृक्ष अपने आप फल दे देते। जहाँ चाहते सो जाते। उस समय वे पूर्ण उन्नत थे। उन्नत वही कहलाता है, जिसे वाह्य वस्तुओंकी अपेक्षा न हो, जो अपने आपमें ही सन्तुष्ट रहे।

असुरोंने देखा कि ये सत्ययुगी मनुष्य तो बड़े आत्मनिष्ठ और दृढव्रत हैं, ये सत्यका पालन करते हैं, किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करते, किसीमें ममता नहीं करते। उनके मनमें ईर्ष्या हुई। इन असुरोंमें से एक 'अहंकार' नाम का असुर था। वह बडा मायावी था। वह चुपकेसे कई रूप रखकर लोगों के शरीरों में घुस गया। अब तो कुछ लोग अपने को बडा समझने लगे। उस अहंकार की वहू ममता भी साथ थी। स्त्री जहाँ जायगी वहीं खटर-पटर करेगी। कुछ वस्तुओं पर अधिकार जमावेगी। उसे अपने बालबच्चों की चिन्ता पहिले से ही हो जाती है। चाहें अभी बाल-बच्चे हुए भी न हों। अब अहंकार और ममता दोनों लोगों में रहने लगे। जिनके शरीरोंमें ये घुस गये वे अन्य लोगों को छोटा मानने लगे। कुछ स्थानों को अपना कहने लगे। अब अहंकार और ममता का वंश बढ़ने लगा। अहंकारके क्रोध नामक पुत्र होगया। ममताने जिस वस्तु पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है, उसका कोई दूसरा उपयोग करता तो अहंकार का पुत्र क्रोध दाँत निकालकर उनकी ओर दौडता। क्रोधका भी विवाह होगया, उसकी पत्नी का नाम था कलह-इनसे भी अविनय और दुश्शील दो लडके होगये। अविनय की वहू उद्धत्ता ने मोह नामक पुत्र पैदा किया, मोह की स्त्री का नाम मूर्खता था, उससे अज्ञान पुत्र हुआ। अब इन असुरों की सृष्टि वढ गयी। ये लोगोंके शरीरोंमें घुसकर उपद्रव करने लगे। उनका जो समत्व का ज्ञान

था वह नष्ट होगया। अहंकार के परिवार ने बढ़कर लोगोंमें अशान्ति उत्पन्न कर दी।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! इस अहंकार का पूर्व पुरुष कौन था। यह किसका पुत्र था?"

भगवान् बोले—"इन सबका आदि पुरुष महा-मोह था।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! महा-मोह किससे उत्पन्न हुआ। इसका आदि पुरुष कौन था।

डाँटकर भगवान्ने कहा—"अब उद्धव! तुम वंशावली पूछते हो या कथा सुनते हो, तुम्हें आम खाने हैं या पेड़ गिनने। वह किस किसका लड़का था, उसका आदि पुरुष कौन था, इन बातों से क्या लाभ? सबका आदि पुरुष मैं ही हूँ। और पूछो क्या पूछते हो?"

उद्धवजीने कहा—"नहीं, महाराज! अब मुझे कुछ पूछना नहीं, मैं समझ गया धर्म अधर्म सबके जनक आपही हो। हाँ, तो आगे की कथा सुनाइये। इन काम, क्रोध, लोभ, मोह असुरोंने क्या-क्या उपद्रव किये?"

भगवान् बोले—"हाँ, ये अहंकार और ममता की संतानें मनुष्यों के शरीर में घुसकर भेदभाव उत्पन्न करने लगीं। जो अपने को बलवान् समझते वे निर्बलों को दुःख देने लगे। अज्ञान के कारण लोगों में सहानुभूति नहीं रही। एक दूसरेसे ईर्ष्या करने लगे। कुछ लोग दण्ड देनेको उतारू हुए। कुछ एक दूसरे को भला बुरा कहने लगे। लोगों में विषमता अशान्ति आदि आगयी। अब कुछ भी उपाय न सूझा तो सब लोग मिलकर शिवजी के समीप गये और बोले—"महाराज! हम लोगों के बीचमें कुछ असुर घुस आये हैं, उन्होंने हममें विषमता उत्पन्न करदी है।

शिवजीने कहा—"उन धूर्तों को मार भगाओ।"

लोगोंने कहा—"महाराज! कैसे मार भगावें। अब उनका बल भी बढ़ गया है, सन्तानें भी उनकी बढ़ गयी हैं। हम लोगों ने उनकी यथेष्ट भर्त्सना की, किन्तु उन्हें दबाना हमारा शक्तिके बाहर की बात होगयी है।"

भगवान शंकरने कहा—चलो, मैं उन दुष्ट असुरोंको मारता हूँ।" यह कहकर पिनाक धारी भगवान् भोलेनाथ आये और उन्होंने अपने आजगव नामक धनुष पर एक चम-चमाता बाण चढ़ाकर आकाश में मारा। उसके लगते ही काम क्रोध और लोभ ये तीनों असुरोंको भूमि पर गिरा दिया। इन सबके वृद्ध प्रपितामह महामोह को भी पटका। शिवजीने तो समझा ये मर गये हैं, अतः वे उन्हें छोड़कर चले गये।

प्रजा के लोग सुखी हुए। वे पुनः पूर्ववत् धर्माचरण करने लगे। सबमें समता थी, लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिये उस युगका नाम कृतयुग हुआ। उस समय वेदों का भी इतना अधिक विस्तार नहीं था। जैसे एक ही 'हंस' नामक वर्ण था वैसे ही 'प्रणव' ही वेद था। धर्म अपने चारों चरणोंसे परिपूर्ण रूप में रहता था।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! धर्मके चार चरण कौन-कौन से हैं?"

भगवान बोले—तप, शौच, दया और सत्य ये ही धर्म के चार चरण हैं। सत्ययुग में धर्म चतुष्पाद रहता है, फिर समयके कारण शनैः शनैः त्रेतामें उसका एकपाद नष्टहो जाता है। द्वापरमें दो ही पैर रह जाते हैं, कलियुगमें धर्म केवल एक पैर पर ही रहता है, कलियुग के अन्तमें उसका वह भी पैर नष्ट हो जाता है, तब मैं अवतार लेकर धर्मके चारों पैरों को पुनः स्थापित करता हूँ।

उद्धवजीने कहा—"हाँ, तो भगवन्! आदि सत्ययुगमें तो आपके कथनानुसार एक ही 'हंस' नामका वर्ण था, फिर चार वर्ण कैसे हो गये ?"

भगवान्ने कहा—"वर्ण तो बीज रूपसे चारों ही अनादि हैं। उनका निकाश समयानुसार शनैः शनैः हुआ। विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण धर्म की उत्पत्ति हुई, भुजाओंसे क्षत्रियों की ऊरु से वैश्यों की और चरणों से शूद्रों की।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! विराट् पुरुषके मुखसे झुंड के झुंड ब्राह्मण निकल पडे। बाहुओंसे राजाओंका समूह, ऊरुओंसे असंख्यों वैश्य और चरणों से शूद्रों की टोलियाँ। यदि ऐसे ही निकले हों तो आदि सत्ययुग में भी ये चारों वर्णों के होंगे।

भगवान्ने कहा—"अरे भाई! मुख से ब्राह्मणोंका समूह नहीं निकला। ब्राह्मणोंका जो ब्राह्मणत्व है, ब्रह्मधर्म है, वह मुखसे निकला। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण शरीरमे मुखही मुख्य और प्रधान स्थान है, उसी प्रकार वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण मुख्य है। जैसे मुखमें अन्न डालनेसे सम्पूर्ण शरीरकी पुष्टि होती है, वैसेही ब्राह्मणको खिलानेसे सम्पूर्ण समाज पुष्ट और उन्नत होता है। जैसे मुखका काम, खाकर सब शरीरको आहार पहुँचाना तथा बोलकर सबको यथायोग्य काममें सबको लगाना है, उसी प्रकार ब्राह्मणका कार्य वेद पढकर पढाकर समाज मे ज्ञानका प्रसार करना है। क्षत्रियोंकी उत्पत्ति भुजाओंसे हुई है। अर्थात् क्षत्रिय धर्म भुजाओंसे उत्पन्न हुआ है। जैसे भुजाएँ सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा करती हैं, अन्नको लेकर मुखमें डालती हैं, शरीरमें कहीं खुजलीहो, तुरन्त हाथ खुजा देते हैं। कोई शरीरको मारने दौडे तो सर्वप्रथम हाथही आगे बढ़कर प्रहारको रोकते हैं। आक्रमण करनेवाले को डंडेसे, अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंसे मुक्का या थप्पडोंसे, मारकर भगा देते हैं।

यही काम समाजकी रक्षा करनेमें क्षत्रियोंका है। क्षतसे, दुःखसे रक्षा करनेके कारण उनका नाम क्षत्रिय है।" जैसे उरुओंके ही बल पर चलना-फिरना सब होता है, प्रजा की वृद्धि ऊरुओंसे ही होती है उसी प्रकार वैश्य कृषि गोरक्षा और व्यापार करके समाजको अन्न घृत और जीवनोपयोगी वस्त्रादि देते हैं, समाजकी समस्त आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं। वे अन्नादि वस्तुएँ न दें, तो समाजकी वृद्धि कैसे हो। इसी प्रकार जैसे चरण सब शरीरका बोझ ढोते हैं, सबसे नीचे रहकर उरु, भुजा और सिर सबका भार वहन करते हैं, उसी प्रकार शूद्र सेवा द्वारा समाजके भारको वहन करते हैं। इन सब बातोंसे यही निष्कर्ष निकला कि विराट् पुरुषके चारों अंगों से चारों वर्णों के धर्म की उत्पत्ति हुई। आवश्यकतानुसार उनका विकाश हुआ।"

उद्धवजीने कहा—हाँ, महाराज! मुख्य प्रश्नतो रह ही गया। एक 'हंस' या ब्राह्मण वर्णसे चारों वर्णों का विकास कैसे हुआ ?"

भगवान् बोले—"मैं पहिलेही बता चुका हूँ कि महामोह रूपी असुरकी सतानोंने आकर लोगोंके शरीरमें घुसकर गड़बड़ी आरंभ की। यद्यपि शिवजीने अपने बाण से कुछ असुरोंको मार दिया, किन्तु उनका समूल नाश नहीं हुआ। सृष्टि में समूल नाश किसीका होता भी नहीं। उनकी सन्तानें फिर बढ गयीं। अब लोगोंने जब समाजमें अव्यवस्था देखी, सबने मिलकर एक सभाकी और कहा—'भाई, ऐसे काम न चलेगा। समाजकी एक व्यवस्था करो सबके वर्ग बनालो, सबको काम बाँट दो। यह बात सर्व-सम्मतिसे स्वीकृत हुई। उनमें जो गौर वर्णके थे, बुद्धिमान थे, पढने-पढानेमें रुचि रखते थे, मेधावी थे, उनको ब्राह्मण बना दिया और उनका यही काम निश्चय हुआ वे वेदों को पढे, पढावें, ज्ञानार्जन करें। जो शरीरमें पुष्ट, शूरवीर, लडाकू और तेजस्वी

थे जो कुछ रक्त वर्णके थे, जिन्हे दूसरोंकी रक्षा करनेमे सुख होता था उनको क्षत्रिय संज्ञा दे दी। वे लोगो पर शासन करें, उसके बदल मे ब्राह्मणो को छोड़कर सबसे कर लें। जो लोग कुछ पीत वर्णके थे। जिनकी व्यापार करनेमे तथा संग्रह करनेमें प्रवृत्ति थी, उनको वैश्य बना दिया और जिनकी रुचि पढ़ने लिखनेमे विशेष नहीं थी, उन्हें शारीरिक कार्य करनेके लिए—तीनों वर्णों की सेवा करनेके लिये—नियुक्त कर दिया। उन्हींका नाम शूद्र हुआ। इस प्रकार एकही वर्ण चार भागोंमे विभक्त हुआ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपना पृथक्-पृथक् वर्ण बनाकर अपने-अपने कार्या में लग गये। मेरे श्वाससे प्रथम ही सूक्ष्मरूपसे ऋक् साम और यजु, इस वेदत्रयीका आविर्भाव हुआ था। समय पाकर वे विशुद्ध ब्राह्मणोंके हृदयमे आविर्भूत होने लगे। एक वेद तीन चार रूपोसे प्रकट हुआ। उस त्रयी विद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्म ये त्रिवृत् यज्ञ रूपसे उत्पन्न हुए। पहिले लोग ध्यानसे ही भगवान्की पूजा करते थे, अब यज्ञयाग होने लगे। त्रयी विद्या होने से तथा धर्मका एक पाद क्षीण होनेसे यह त्रेतायुग कहाया। इसमे वर्णाश्रम धर्मकी ही प्रधानता हो गयी। इन सबके समाज पृथक्-पृथक् बन गये। और ये वेषसे भूषासे रहन-सहन तथा अपने-अपने कर्मो के द्वारा बिना बताये ही स्पष्ट पहिचाने जाने लगे। इन सबके धर्म भी निश्चित हो गये।

जैसे विराट् पुरुष के चार अङ्गोंसे चारों वर्णो की उत्पत्ति हुई है, वैसेही उनके चार अंगोंसे चार आश्रमकी भी उत्पत्ति हुई थी। जैसे मस्तकसे सन्यास धर्म, वक्षस्थलसे वानप्रस्थधर्म, हृदय से ब्रह्मचर्य धर्म और जङ्घाओंसे गृहस्थ धर्म। जब चार वर्ण हुए तो चार आश्रम भी होनेही चाहिए। अतः अब अपने अपने धर्म और नियमोंके अनुसार सभी वर्णाश्रम धर्मका पालन करने लगे।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! किस वर्णका किस आश्रमका क्या क्या धर्म है, इसे मुझे विस्तार से सुनाइये।"

भगवान्ने कहा—"भैया, समस्त वेद शास्त्र और पुराणोंमें प्रधानतया वर्णाश्रम धर्म की ही चर्चा है, अतः मैं विस्तारके साथ तो इन्हें सृष्टिके अन्त तक भी नहीं सुना सकता। हाँ, अत्यन्त संकेत मात्रमें इनके धर्मोंको सुनाता हूं, तुम इनका अपने मनमें विस्तार कर लेना।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान्ने चारों वर्ण और चारों आश्रमके धर्मोंका वर्णन किया, उनको मैं संक्षेपमें आप सबको सुनाता हूँ। पहिले वर्ण धर्म कहकर तब आश्रम धर्मोंको कहूँगा। वर्णोंमें सर्वप्रथम आप ब्राह्मणोंके धर्मको ही सुनिये।

छप्पय

वरन सरिस ही चार भये आश्रम विराट् तैं।
मस्तक तें सन्यास धर्म प्रकटित स्वराट् तैं।।
गृह आश्रम वटु धर्म जघन अरु हिय तें जानो।
वक्ष-स्थल तैं वान-प्रस्थ उतपति तुम मानो।।
चार-चार आश्रम वरन, सबके पृथक् स्वभाव हैं।
पावैं फल सब कर्म करि, जिनके जैसे भाव है।

—:o:—

ब्राह्मण स्वभाव

(१२७२)

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्ति रार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृ तयस्त्विमा : ॥*

(श्रीमा० ११ स्क० १७ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

पहिले सुनो स्वभाव विप्रको उद्धव! उत्तम।
शम दम महँ नित निरत रहे ध्यावै चरननि मम॥
तत्परता के सहित शौचके पाले नियमनि।
यथालाभ सन्तोष करे नहिं संग्रह वस्तुनि॥
अपकारी के दोषकूँ, शक्तिवान् हूँके सतत।
क्षमा करे निष्कपट है, परकारज महँ नित निरत॥

बिना सिखाये जो जन्म से ही गुण आवें उन्हें स्वभाव या प्रकृति कहते हैं। नैसर्गिक अथवा जो स्वाभाविक गुण हैं, उनका त्याग देना अत्यंत ही कठिन है। गौका दूध स्वभाव से ही

---

*श्री भगवान् कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, ऋजुता, मेरी भक्ति दया और सत्य ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं।"

ीठा होता है, नीम का फल स्वभाव से ही कड़वा होता है। रीतिका स्वभाव से ही रोचक होती है। जो जिस वर्णका होता है, उसमें उस वर्ण के गुण स्वभाव से ही होते हैं।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने ब्राह्मण के स्वभाव के सम्बन्ध में पूछा तो भगवान् श्री कृष्णचन्द्र कहने लगे—"उद्धव! ब्राह्मण स्वभाव से ही कष्ट सहिष्णु, त्यागी और असंग्रही होता है। उसमें आठ गुण नैसर्गिक होते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ब्राह्मण में कौन कौन से आठ गुण स्वाभाविक होते हैं।"

भगवान् बोले—सुनो उद्धव! तुम्हें बताता हूँ, ब्राह्मण में सर्व प्रथम गुण तो होता है, 'शम'।

(१) शम—शम कहते हैं चित्त को वश में रखने को। जिसका चित्त वशमें नहीं, वह कोई भी पारमार्थिक साधन नहीं कर सकता। चित्त की चंचलता ही अशान्ति का कारण है। ब्राह्मण का चित्त सदा परमार्थ। चिन्तन में लगा रहता है, वह कभी भी विषयोंका चिन्तन नहीं करता। सुनते हैं, किसी ऋषि ने अपने छोटे से पुत्र को देखा—वह जीवहिंसा में प्रवृत्त हो रहा है, तुरन्त उन्होंने उसका परित्याग कर दिया और कह दिया—"यह ब्राह्मण नहीं, इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हिंसामें है। ब्राह्मण का चित्त कभी भूल से चंचल हो जाय तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। दूसरा ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है "दम।"

(२) दम—दम कहते हैं, इन्द्रियों के दमन को। ब्राह्मण की इन्द्रियाँ स्वाभाविक उसके वशमें रहती हैं। उसकी वाणी कभी अपशब्द न बोलेगी। वह न देखने योग्य वस्तुओं को कभी न देखेगा। न सुनने योग्य शब्दों में उसकी कभी भी प्रवृत्ति न होगी। महाराज द्रुपद की राजसभामें जब द्रोणाचार्य गये तो राजा ने आचार्य का सम्मान नहीं किया; उनका तिरस्कार किया। इससे दुखी होकर आचार्यने अपने कौरव-पांडव आदि शिष्यों को

भेजकर उसे बँधवा मँगवाया। पीछे क्षमा कर दिया। राजा के मन में द्वेष बना रहा। वह आचार्य को मरवाने के लिये यज्ञ करना चाहते थे, किन्तु कोई भी ब्राह्मण उस हिंसामय यज्ञ को कराने को उद्यत नहीं हुए। तब वे एक मुनिके पास दीन होकर गये और बहुत अनुनय विनय की, तब मुनिने कहा—"राजन्! विशुद्ध ब्राह्मण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह तो इस हिंसामय यज्ञ को करावेगा नहीं। हाँ, जो लोभी होगा, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें न होंगी, वह धन के लोभसे तुम्हारे यज्ञ को करावेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आप ही किसी दम रहित ब्राह्मण को बतावें।"

मुनि बोले—"मेरे एक भाई हैं, मैं जानता हूँ उनकी इन्द्रियाँ उनके वशमें नहीं हैं। एक दिन हम दोनों साथ-साथ जा रहे थे। वनमें एक सुंदर फल मार्ग में पड़ा था। उन्होंने उसे उठा लिया। न तो उन्होंने उसकी समीक्षाकी कि यह किसका फल है, यहाँ कैसे आया, यह खाने योग्य है या नहीं। न उसे धोया न भगवान् का भोग लगाया, जिह्वा लोलुपतावश वे उसे वैसे ही चलते चलते मार्ग में खा गये। इसलिये मैं अनुमान करता हूँ कि जब वे इतने जिह्वालोलुप हैं, तो धन के लोभ से आप के इस हिंसा परायण यज्ञ को भी करा देंगे।"

यहाँ इस दृष्टान्त के देने का अभिप्राय इतना ही है कि यथार्थ ब्राह्मण की इन्द्रियाँ उसके वशमें रहती हैं। वे मर्यादाहीन व्यवहार करने में जहाँ तक होता है प्रवृत्त नहीं होतीं। तीसरा ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है 'तप'।

(३) तप—ब्राह्मण जन्म से ही तपस्वी होता है। उसे इन्द्रिय प्रीतिकारक नहीं होते। कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों में उसकी

प्रीति होती है। ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र कामनाओं के लिये नहीं होता। इसलोक में जब तक रहता है, तप करता रहता है। उसीका फल है कि वह मर कर पुण्य

लोकों में दिव्य सुख भोगता रहता है। जो इस लोक में तप नहीं करेगा, इन्द्रियों के भोगों में ही आसक्त रहेगा, उसे मरकर नरक की यातनायें सहनी पडेंगी।"

एक बार महामुनि नारद तुम्बुरु गन्धर्व के साथ जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक बड़ा ही सुंदर वस्त्राभूषणों से अलंकृत राजपुत्र

मिला। उस राजपुत्र ने नारद जी को प्रणाम किया, तब नारदजी ने कहा—"राजपुत्र! चिरंजीव! हे राजकुमार! तुम बहुत दिन तक जीते रहो।" यह कह कर वे आगे बढ़ गये।

आगे चलकर उन्हें एक कोपीन लगाये, जटा बढ़ाये, समिधा का गट्ठर लिये ऋषिकुमार मिला। उसने भी नारदजी को प्रणाम किया तब नारदजी ने कहा—"मा जीव ऋषि पुत्रक।" हे ऋषि कुमार तू बहुत दिनों तक जीवित मत रहे। ऐसा कह कर फिर आगे चल दिये।

चलते चलते उन्हें आगे एक अवधूत साधु मिले। उन्होंने भी नारदजी को प्रणाम किया। नारदजी ने कहा—"जीव वा मर वा साधो!" हे साधो! तू चाहे जीवित रहो या मर जा। यह कह कर आगे चल दिये।

आगे एक व्याध हाथ में पाश लिये हुए मिला, उसने भी नारदजी को प्रणाम किया। तब नारदजी ने उससे कहा—'व्याध! मा जीव मा मर। हे व्याधा! तू न तो जीवित ही रह न मरही।"

इस पर तुम्बुरु ने पूछा—"महाराज! आपने इन चारों को चार प्रकार का आशीर्वाद क्यों दिया?"

इसपर नारदजी ने कहा—"देखो, भैया! जिसका जैसा स्वभाव है वह छूटता नहीं। यह व्याधा है जब तक जीता रहेगा हिंसा करेगा, मरेगा तो नरकों में जायगा। इसलिये मैंने कहा तेरा जीना भी अच्छा नहीं मरना भी अच्छा नहीं। जीनेमें भी तुझे दुख है मरने में भी दुख है। अब रहे ये साधु, ये जब तक जीवेंगे परोपकार करेंगे, मरेंगे तो वैकुंठादि लोकोंमें जायगे। इसलिये इनका जीवित रहना भी अच्छा, मरना भी अच्छा। यह राजपुत्र जब तक जीता रहेगा यथेष्ट सुखोंको भोगेगा, आखेट और सब प्रकार के इन्द्रिय सुखों का अनुभव करेगा मर कर इसे नरकों में जाना होगा। इसलिये मैंने कह दिया तू जितना ही जीवेगा उतना

ही अच्छा है। इस ऋषिपुत्रको मैंने न जीने का वरदान इसलिये दिया कि ब्राह्मण का शरीर तपस्या के ही लिये होता है। यह ऋषिकुमार जब तक जीवेगा तप कर करके कष्ट ही उठाता रहेगा। सुखतो इसे मरने पर ही मिलेगा। अत: जितना ही शीघ्र यह मरे उतना ही शीघ्र इसे सुख मिले, क्योंकि ब्राह्मण को इस जन्म मे शारीरिक सुख नहीं होता, उसे तो तपस्या मयही समस्त जीवन व्यतीत करना पडता है, अत तप ब्राह्मण का नैसर्गिक गुण है। चतुर्थ गुण है 'शौच।'

(४) शौच—शौच कहते हैं, भीतर बाहर की पवित्रता को। जो ब्राह्मण पवित्र नहीं रहता वह ब्राह्मण नहीं। शौच की शिक्षा गुरुकुलमे सबसे प्रथम दी जाती है। शौचहीन ब्राह्मण भी अधम है और शौचसे युक्त श्वपच भी श्रेष्ठ है। इस विषयमे एक दृष्टान्त है।

किसी राजाकी हथेलीमें बाल उत्पन्न हो गया। उसने पडितों को बुलाकर उसका कारण पूछा, तो पडितों ने बताया, महाराज! एक ऋषिके उपचारसे ऐसा हुआ है।

राजाने पूछा—"तो महाराज! इसका उपाय क्या है, किस प्रकार यह मिट सकता है?"

पडितों ने कहा—"महाराज! किसी अधम के हाथ का अन्न हाथ पर रख कर खालें तो आपका यह बाल तुरन्त चला जाय।"

राजा की नगरी मे एक बडा ही भक्त श्वपच रहता था। राजा ने जाकर उससे कहा—"देखो, भाई कल हम तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे।" यह सुनकर श्वपच के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने तुरन्त अपनी झोंपडी मे आग लगा दी। कहीं से शुद्ध नया फूँस लाया, नयी झोंपडी बनायी। शुद्ध पीली मिट्टी और गौ का गोबर लाकर उसे लीपा। जितने पुराने कपडे थे सबको जला दिया, नये

कपड़े लाया। बात सर्वत्र फैल गयी—कल राजा इसके यहाँ भोजन करेंगे, अतः उसने जिससे जो माँगा उसने वह वस्तु तुरन्त दे दी। वह ताँबे के सुन्दर वर्तन ले आया, उनमें गंगाजल भर लाया। उसकी स्त्री ने पंचगव्य से स्नान किया, सुन्दर रेशमी वस्त्र पहिने, बड़ी पवित्रता से गंगाजल से रसोई बनायी। महाराज पधारे, उन्हें बैठने को पीढ़ा दिया, रुचि के साथ भोजन कराया। राजा बार बार भोजन को हथेली से लगाते किन्तु हथेली का बाल नहीं गया, नहीं गया। भोजन करके चले आये।

दूसरे दिन उन्होंने फिर पंडितों की सभा की और कहा—"पंडितो! आपने मेरा धर्म भी बिगड़वाया। किन्तु मेरी हथेली का बाल तो गया ही नहीं।"

पंडितों ने कहा—"महाराज! हमने तो आप से नीच के हाथ का भोजन करने को कहा था, नीच वह है जो शौच से हीन है। यद्यपि वह जाति का श्वपच था, किन्तु उसने तो बड़ी पवित्रता से परम शुद्धता से भोजन बनाया था। उसके खाने से आपकी हथेली का बाल नहीं जा सकता।"

राजा ने कहा—"अच्छा, तो महाराज! आप ही बताओ कौन नीच है?"

एक पंडित ने कहा—"अच्छा, महाराज! मेरे साथ आप चलें तो मैं आपको नीच बताऊँगा।"

यह सुनकर राजा उन ब्राह्मण के साथ चल पड़े। गर्मी के दिन थे चलते चलते उन्हें दोपहर हो गया। कड़ाके की धूप पड़ रही थी। राजा आज तक इतने पैदल चले नहीं थे। सामने देखा—एक ब्राह्मण दो अत्यंत दुबले-पतले बैलों से हल जोत रहा है। यद्यपि अब दोपहर हो गया है, बैल चलते नहीं तो भी उनके शरीर में पैना की कील चुभो चुभो कर उन्हें चला रहा है। बैलों के

शरीर से रक्त बह रहा है। वह उसके हाथों मे भी लग गया है। फिर भी वह हल को छोड़ता नहीं।

राजपंडित ने कहा—"राजन्! सबसे नोच तो यह है। इसके हाथ की रोटी आपको मिल जाय तो अभी आप की हथेली का वाल चला जाय।"

राजा ने कहा—"इसके हाथ का भोजन मिले कैसे ?"

पंडित ने कहा—"बैठिये, मैं आपको उपाय बताऊँगा।" यह सुनकर राजा और पंडित दोनों ही समीपके एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। इतने में ही उसकी पत्नी रोटी शाक और जल लेकर खेत पर आई। उसकी बगल मे वर्ष सवा वर्ष का एक बालक था। उसने कहा—"दोपहर हो गया है। हल को छोड़कर रोटी खालो।"

उस कृषक विप्रने कहा—"तू तो कुछ समझती बूझती नहीं। आज मुझे यह पूरा खेत जोतना है। आज मैं जब तक इसे पूरा न जोत लूँगा। तब तक हल को छोड़ूँगा नहीं।"

स्त्री ने कहा—"तो रोटी कैसे खाओगे।"

उसने कहा—"मैं हल जोतता जाऊँगा, तू टुकड़े तोड़ तोड़कर मेरे मुख मे देती जा। खेत भी जुतता जायगा और रोटी भी खा ली जायगी।"

स्त्री क्या करती वह साथ-साथ चलकर टुकड़े तोड़कर उसके मुख मे देती जाती। बच्चा गोदी में था। उसी समय बच्चे ने लघुशंका कर दी। रोटियों पर भी कुछ छींटे आगये।"

स्त्री ने कहा—"हाय! इस छोरा ने तो सब गुड़ गोबर कर दिया। मूत दिया।"

उसने डाँटकर कहा—"मूत दिया तो क्या हुआ? 'पूत को मूत प्रयाग को पानी' कुछ डर नहीं, तू ग्रास मेरे मुख में देती जा।"

उसी समय पंडितजी ने राजा से कहा—"महाराज! अब आप इससे माँगलो।"

राजा ने कहा—"पंडितजी! मैं समझ गया। माँगने से तो यह एक ग्रास भी नहीं देने का।" उसी समय एक टुकड़ा उस स्त्री के हाथ से गिर गया।"

पंडितजी ने शीघ्रता से कहा—"महाराज! दौड़ो, काम बन गया।" यह सुनकर दौड़कर राजा ने वह ग्रास उठा लिया। ज्यों ही उसे हथेली पर रखकर खाना चाहा त्योंही उनकी हथेली का बाल टूट कर भूमि पर गिर पड़ा।

तब पंडित ने कहा—"महाराज! जो शौच से हीन है वही नीच है, चाहे वह उच्च वर्ण का हो क्यों न हो। यदि नीच वर्ण का भी शौच से युक्त है तो वह श्रेष्ठ है।"

शौच की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण का नैसर्गिक गुण पवित्रता है। अब पंचम गुण है 'सन्तोष'।

(५) सन्तोष—सन्तोष उसे कहते है कि जब जैसी भी परिस्थिति आ जाय उसी मे सन्तुष्ट रहना। भगवान् ने आज एक रोटी ही दी, तो उसे ही खाकर प्रसन्न रहना। यदि भर पेट दे दी तो उसी में सन्तुष्ट रहना। संसार में सन्तोष की बराबर कोई भी सुख नहीं। जिसके हृदय मे सन्तोष है वह एक चुल्लू जल से भी सन्तुष्ट हो सकता है, जिसके हृदय में संतोष नहीं वह सात द्वीपों का राज्य पाने पर भी असन्तुष्ट और दुखी बना रहेगा। देखो, सुदामा कितने सन्तोषी थे। इतने विद्वान्, त्यागी और शास्त्रज्ञ होने पर भी उन्हें भिक्षा से जो भी मिल जाता उसी पर सन्तुष्ट रहते। कितनी भी अधिक वस्तुएँ अपने समीप क्यों न हों, यदि सन्तोष नहीं तो वे कुछ भी नहीं। यदि सन्तोष है, तो कुछ भी न होने पर सब कुछ है। अजगर कुछ भी नहीं करता। घर बैठे उसे जो मिल जाता है, उसे ही खा लेता है, कुछ नहीं मिलता तो वायु पीकर

ही निर्वाह कर लेता है। किन्तु आहार न मिलने से वह दुर्वल नही होता। जैसा का तैसा मोटा बना रहता है। वन के गजों को ऊख कहाँ खाने को मिलती है। सूखी घास खाकर वे कितने बलवान् बने रहते हैं, ऋषि-मुनि वन के कडवे कसैले फलों को ही खाकर जीवन यापन करते करते हैं और ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करते हैं। ये सब दुखी क्यों नहीं होते, इसीलिये कि ये जो मिल जाता है उसी मे सन्तुष्ट रहते हैं। ब्राह्मण के मन मे जहाँ असन्तोष आया नहीं कि वह फिर नष्ट होकर ही रहता है। अतः ब्राह्मण का मुख्य धन सन्तोष है। छटा गुण है, 'क्षमा'।

(६) क्षमा—उसे कहते हैं कि कोई चाहें कितना भी अपना अपकार करदे किन्तु स्वयं उसका कभी अपकार न करना। अपकारी के अपकारो की ओर ध्यान ही न देना, यही नहीं उसका शक्ति भर उपकार करना। एक ब्राह्मण किसी राजा के यहाँ कुछ याचना करने गया, राजा ने उसे वह वस्तु नहीं दी। जब ब्राह्मण चलने लगा, तो फिर उसे बुलाकर बिठाया और फिर उसका अपमान किया। जब ऐसे कई बार किया और ब्राह्मण ने कुछ भी रोप नहीं किया, तब राजा उसके पैरों मे गिर गया और गद्‌गद् कण्ठ से कहा—"ब्रह्मन्! आपकी क्षमा को धन्य है।"

ब्राह्मण ने कहा—"इसमें धन्यवादकी मैंने कौनसी बातकी। कुत्ते को तो मारते हैं, दुतकारते हैं, फिर भी टुकडेकी आशासे वह चला जाता है। यह गुण तो कुत्ते में भी है।

क्षमा करके और मनमे यह अभिमान भी न आवे, कि मैंने उसे क्षमाकर दिया यही क्षमाका स्वरुप है। क्षमाहीन ब्राह्मण शोभा नहीं पाता। श्रेष्ठ पुरुप उसकी निन्दा करते हैं। राजा सहस्रार्जुन भगवान् परशुरामके परोक्षमे बलपूर्वक उनके पिता जमदग्निकी कामधेनु गौको हर लेगया। वनसे आने पर जब परशुरामजी ने यह सब वृत्तान्त सुना तो वे क्रोध मे भरकर राजा

की राजधानी में गये सेना सहित राजाका वध करके गौ लेकर वे बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने पिताके निकट आये। वे मार्ग में सोचते आते थे, कि पिता जब कामधेनुको देखेंगे और मेरी वीरता की बात सुनेंगे, तो परम प्रमुदित होंगे, मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करेंगे, प्यार करेंगे और आशीर्वाद देंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत ही।

भगवान् जमदग्नि ने जब सुना कि यह राजाको मारकर कामधेनुको छीन लाया है, तो वे अपने पुत्रको धिक्कारते हुए बोले—"परशुराम ! वैसे तुम्हारी ये बाहुएँ तो बहुत बड़ी-बड़ी हैं। किन्तु इनसे तुमने पुण्य न कमाकर पाप ही कमाया ?"

परशुराम जी तो हक्के-बक्के रह गये, उन्होंने कहा—"पिता जी ! मैंने कौन सा पाप किया ?"

महर्षि जमदग्नि ने कहा—"इससे बड़ा और पाप क्या होगा, जिस राजाका विधिवत् राज्य सिंहासन पर अभिषेक हुआ है, जो मूर्धाभिषिक्त है, उसका तुमने वध किया। ऐसा राजाका वध करना तो ब्रह्म बधसे भी बढ़कर पाप है।"

परशुरामजी ने कहा—"महाराज ! उसने भी तो पाप किया। आपने उसका सेना सहित सत्कार किया, उसका कितना उपकार किया। इसके बदले में वह बलपूर्वक आपकी यज्ञीय धेनुको हर लेगया। उसने तो आपके धर्म को ही नष्टकर दिया था।"

धैर्य के साथ महामुनि जमदग्नि ने कहा—"अरे, भैया ! तुम समझते नहीं। उसने जो भी कुछ किया हो वह राजा है। हम ब्राह्मण जो सबसे श्रेष्ठ माने गये हैं वह दण्ड देनेसे, युद्ध करनेसे, अथवा बदला लेनेसे तो बड़े नहीं माने गये हैं। भाई हमारा बड़प्पन तो क्षमाके ही कारण है न ? ब्रह्माजी की सभी सृष्टि है। असुर, राक्षस, भूत, प्रेत पिशाच ये सब नित्य ही कितना पाप करते हैं।

यों दंड देने पर ब्रह्माजी उतारू हो जायँ, तो सभीका एक दिनमें उन्हें संहार करना पड़े। वे सबको सहते हैं, सभीको क्षमा करते रहते हैं, इस क्षमाके प्रभावसे ही तो वे पारमेष्ठ्य पद पर अवस्थित हैं।"

परशुरामजी ने कहा—"महाराज! जिस क्षमासे अपना धर्म-कर्म ही लुप्त हो जाय उस क्षमाको तो मैं उचित समझता नहीं।"

डॉटकर जमदग्निजी ने कहा—"तुम क्या बकबक करते हो। तुमने क्षमाका कुछ महत्व भी समझा है या वैसे ही बडबडा रहे हो। अरे, क्षमावान् के धर्मको भला कोई नष्ट कर सकता है? ब्राह्मणकी ब्रह्मसम्पत्ति क्षमाके कारण और भी चमचम करके चमक उठती है। जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है, उसका कोई भी शत्रु कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। तुमने शस्त्रसे किसी के पिता को मार दिया, कल कोई तुम्हारे पिता को मार देगा। यह तो कीचको कीचसे धोना हुआ। क्षमावानों के लोक-परलोक दोनों बन जाते हैं। इस लोक में क्षमा शीलकी प्रशंसा होती है, मरकर उन्हे पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है, क्षमावानो पर श्रीहरि शीघ्र प्रसन्न होते हैं। जाओ तुम तीर्थ यात्रा करो, भगवान् भजन करो, अपने पापका प्रायश्चित करो।"

इस प्रकार महर्षि जमदग्नि ने परशुराम जी को क्षमाका उपदेश दिया। ब्राह्मण की श्रेष्ठता बल के कारण नहीं है, क्षमा के कारण है। जो ब्राह्मण जितना ही क्षमाशील होगा, वह उतना ही श्रेष्ठ माना जायगा। सातवाँ ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है, 'ऋजुता।'

(७) ऋजुता—ऋजुता कहते हैं, कोमलता को। ब्राह्मण का हृदय कभी कठोर नहीं होता। उसका चित्त नवनीत के सदृश कोमल और स्निग्ध होता है, उसे कभी किसी बात पर क्रोध आ भी जाता है, तो वह पानीकी लकीटर के सदृश तुरन्त मिट जाता है। उसके हृदय में द्वेष को संग्रह करके रखने की क्षमता नहीं

होती। देखा गया है, कभी-कभी ब्राह्मण क्रोध में भरकर शाप भी भी दे देते हैं, किन्तु उसी समय कोई अनुनय विनय करता है, तो उनका कोमल चित्त पिघल जाता है। अपनी वाणी की सत्यता की रक्षाके लिये कुछ थोडा बहुत बता देते हैं, नहीं तो उसे तुरन्त क्षमा भी कर देते हैं।

अपने गुरुको दक्षिणा देना पढ़ने के अनन्तर शिष्यका आवश्यक कर्म माना जाता है। महर्षि वेद का शिष्य उत्तङ्क था। उसने गुरु से प्रार्थना की 'मैं आपको क्या गुरु दक्षिणा दूँ' गुरु ने कहा—"मेरी पत्नी जो कहे वही लादो।"

उत्तङ्क गुरु पत्नी के समीप गया। और पूछा—"माताजी गुरु दक्षिणा मे आप जो भी चाहें वही मैं लादूँ।" स्त्रियो को तो आभूषण ही बहुत प्रिय होते हैं, किसी यज्ञ में वेद मुनि की पत्नी ने राजा पौष्य की पटरानी के कानों मे दिव्य कुंडल देखे होंगे, उसके मनपर चढ गये होंगे। उसने कहा—"तू मेरा प्रिय करना चाहता है। तो आज के चौथे दिन मेरे यहाँ श्राद्ध है। मैं चाहती हूँ। उन कुडलों को पहिनकर ब्राह्मणो को भोजन परोसूँ। तू जैसे बने तैसे उस रानीसे कुंडल माँगला, यही तेरी गुरु दक्षिणा है।

ब्रह्मचारी उत्तङ्क साहसी और सामर्थ्यवान् था। वह राजा पौष्य के यहाँ गया, उसने अपने आने का कारण सुना दिया। योग्य पात्रो के लिये पहिले राजाओं के यहाँ कुछ अदेय नहीं समझा जाता था। राजा ने ब्रह्मचारी को रानी के समीप भेज दिया। रानी ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए वे दिव्य कुंडल जिनमें से सदा अमृत चूता रहता था ब्रह्मचारी को दे दिये।

अब इतना बडा योग्य अतिथि आया है। राजा उसका बिना आतिथ्य किये कैसे मानने वाला था। राजा ने बहुत आग्रह किया—"ब्रह्मन्! बिना भोजन किये आप नहीं जा सकते। उत्तङ्क

मुनि ने बहुत कहा—"राजन्! आपने मेरी मनोकामना पूर्ण कर दी इससे बडा और आतिथ्य क्या होगा। यदि मैं समय से इन कुंडलों को लेकर न पहुँचाता तो गुरुपत्नी मुझे शाप दे देंगी। किन्तु राजा ने कहा—"नहीं ब्रह्मन! अतिथि घर पर आवे और बिना खाये चला जाय, यह हो नहीं सकता।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जो तुम्हारे यहाँ तैयार हो, वही ले आओ।"

राजा ने दासियों को आज्ञा दी, वे भोजन ले आयीं। भोजन एक तो ठंडा था, फिर उसमें बाल पड़े थे। मुनि जाने की शीघ्रता में थे, ऐसा अयोग्य भोजन देखकर उन्हें कुछ क्रोध आ गया और वे बोले—"राजन्! तुम बाल पड़ा हुआ बासी अयोग्य अन्न मुझे खाने को देते हो जाओ तुम अन्धे हो जाओ।"

राजा भी सामर्थ्यवान् था। उसने कहा—"तुम मेरे शुद्ध अन्न में दोष लगाते हो जाओ तुम्हारे कभी सन्तान ही न हो।"

तब मुनि ने कहा—"राजन्! आप मुझे निरपराध दोष देते हैं, आप इस अन्न को देख तो लें।" यह सुनकर राजा ने उस अन्न को देखा। वह ठंडा था, बासी था उसमें बाल पड़ा था। तब तो राजा ने मुनि के पैर पकड लिये और कहा—"अवश्य यह अन्न न खाने योग्य है, आप ऐसा करें, कि मैं अन्धा न होऊ।"

पैर पकडते ही मुनि प्रसन्न हो गये और अत्यंत नम्रता के साथ बोले—"राजन्! मैंने तो कभी हँसी में तथा स्वप्न में भी झूठ नहीं बोला। अतः अन्धे तो आप नाम मात्र को हो ही जायँगे, किन्तु एक दो दिन में फिर दीखने लगेगा। फिर आप ज्यों के त्यों हो जायँगे। मैंने तो अपना शाप लौटा लिया। अब आप भी अपना शाप लौटालें, जिससे मैं सन्तान हीन न होऊं।"

यह सुनकर सूखी हँसी हँसकर राजा पौष्य बोले—"ब्रह्मन्!

में अपने शापको नहीं लौटा सकता। मेरा क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ।"

उत्तङ्क मुनि ने पूछा—"आप क्यों नहीं शापको लौटाते।"

तब राजा ने कहा—"देखिये, ब्रह्मन्! ब्राह्मण का हृदय नवनीत के समान कामल होता है। उसका वाणो मे कटुता कभी भले ही आजाय, किन्तु हृदय उनका ऋजुतासे सदा परिपूर्ण रहता है। क्षत्रिय का हृदय तीक्ष्ण होता है। अतः मैं अपने शापको नहीं लौटाऊँगा।"

इसपर हँसकर ब्राह्मण ने कहा—"तुमने मुझे मिथ्याशाप दिया है, अकारण दिया है। वह मुझे लगेगा ही नहीं।"

यहाँ इस कहानी के कहनेका इतना ही तात्पर्य है, कि ब्राह्मण की वाणी मे कभी भले ही तीक्ष्णता आजाय, किन्तु उसके हृदयमें सदा कोमलता भरी रहती है। अब आठवाँ गुण है 'भगवत—भक्ति।'

(८) भगवद्—भक्ति अपने योगक्षेम की कुछ भी चिन्ता न करके भगवान् के ही आश्रय रहकर स्वधर्मका पालन करते रहना यही भगवद्-भक्ति है। लोगो को इस बात का भ्रम है कि बिना धन के धर्मका पालन कैसे होगा। इसलिये धन प्राप्ति के लिये वे भगवान् के भरोसे को भूल जाते हैं। धर्मका महत्त्व विशेष धन व्यय से नहीं होता, वह तो शुद्ध भावना से होता है।

ब्राह्मण भगवद्भक्तिसे ही सर्वमान्य होता है। यदि चारों वेद पढ़ लिये और भगवान् की भक्ति न हुई तो उसका वेदाध्ययन निरर्थक है। यदि भगवान्की भक्ति है, तो सब गुणों की शोभा बढ़ जाती है। नवम गुण ब्राह्मण का है 'दया'।

(९) दया—दूसरों को दुखी देखकर उसके दुख को दूर करने की भावनाका नाम है, दया। जिसके हृदयमें दीन दुखियोंके प्रति दया है, वह नर रूपमें नारायण है। सुनते हैं, किसी अत्यंत व्रत और तपस्या धारी मुनिको उनके किसी तनिक से अपराधके पीछे

नरकके मार्गसे लेजाया जा रहा था। उनके शरीर की वायु लगते ही जितने नरकवासी प्राणी थे, सबके सब परम प्रमुदित हुए। जब वे जाने लगे—"तो नरकवासी अत्यत दुखित होकर रोने लगे। तब उन व्रतधारी दयालु मुनि ने पूछा—'दूतो ! ये नरकवासी अभी-अभी तो बडे प्रसन्न थे, अब रोने क्यों लगे।"

दूतों ने बताया—"महानुभाव ! आप धर्मात्मा हैं, दयालु है, आपके शरीर की दिव्य वायु लगने से नरकमें भी इन्हे परम सुख मिला अब जब आप जा रहे हैं, तो ये दुखी हो रहे हैं।"

यह सुनकर उन दयालु महानुभाव ने कहा—"मुझे पुण्य-लोकोंमें अब नहीं जाना है, मैं तो अब यहीं नरकमे रहकर सबके बदले का दुख सहूँगा। धर्मराज से कह दो इन सब पापियों को नरकसे मुक्त कर दो, इनके सबके बदले मुझे अनत काल तक जितना दुख सहना पडेगा में सहूँगा।"

धर्मराज ने ऐसा ही किया, नरक खाली होगया। तब उन दयालु व्रतधारी महानुभाव ने पूछा—"मुझे अब जबतक नरक मे रखना हो आप रखें।"

यह सुनकर धर्मराजने कहा—"महानुभाव ! इस दया के कारण तो आप का धर्म करोडो गुना और बढ गया। अब आप अक्षय लोकों के अधिकारी हो गये।"

कहने का साराश इतना ही है कि दयावान् जहाँ भी जायगा वहाँ दया करेगा और जो सभी प्राणियों पर अधिक दया दिखावेगा। ब्राह्मण मे दया गुण स्वाभाविक होता है। जिस ब्राह्मण का हृदय दूसरों के दु ख को देखकर द्रवित नहीं होता, वह नाममात्र का ब्राह्मण है। दया के कारण ही ब्राह्मण सर्वोत्तम कहे जाते हैं। दशवा नैसर्गिक गुण ब्राह्मणो मे है 'सत्य'।

(१०) सत्य—सत्य उसे कहते हैं, जो जैसे देखा सुना या अनुभव किया हो उसे वैसे ही कहना, बताना। ब्राह्मण की सत्य

में स्वाभाविक रुचि होती है। इस विषय में एक वैदिक आख्यान है।

सत्यकाम नामक एक ब्रह्मचारी हारिद्रुमत गौतम नामक एक आचार्य के समीप गया और जाकर उसने साष्टाग प्रणाम करके उनसे कहा—"भगवन्! मैं आपकी चरण सन्निधि मे रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करना चाहता हूँ।"

आचार्य ने पूछा—सौम्य! तुम किस गोत्र मे उत्पन्न हुए? तुम्हारे पिता का गोत्र क्या है?

उसने कहा—ब्रह्मन्! "मेरे पिता तो हैं नहीं, मेरी माता हैं, मैंने उनसे पूछा था—"गुरुजी यदि मेरा गोत्र पूछे तो मैं क्या उत्तर दू?"

इस पर मेरी माता ने कहा—"बेटा! मेरी जब युवावस्था थी, तब में परिचारिगी थी, बहुत कामधन्धा किया करती थी। उसी समय मैंने तुझे प्राप्त किया। मैं यह नहीं जानती तू किस गोत्र वाला है। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है।"

इतना सुनते ही आचार्य ने बालक को छाती से चिपटा लिया और बोले—"बेटा! निश्चय ही तू ब्राह्मण है तू किसी ऋषि के वीय से उत्पन्न हुआ है। ब्राह्मण के बिना ऐसा यथार्थ सत्य स्पष्ट भाषण कोई कर ही नहीं सकता, तू समिधा ले आ मैं तेरा उपनयन संस्कार करूँगा। जबाल का पुत्र होने से आज से तेरा नाम "सत्यकाम जाबाल" हुआ।

कहने का साराश इतना ही है कि ब्राह्मण में सत्य बोलने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही होती है।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार ब्राह्मण में शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य येस्वाभाविक जन्म जात गुण होतेहैं। इन्हें ब्राह्मणबालक पेट से ही सीख कर आता है। जिसमें जितने

ही न्यून गुण होंगे उसमें उतनी ही त्रुटि होगी। यह मैंने ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव कहे, अब मैं ब्राह्मण के धर्म और वृत्ति को बताता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान् ने ब्राह्मण की वृत्ति और धर्म का वर्णन किया उसे मैं आप से कहता हूँ।"

छप्पय

होवे मृदुल स्वभाव भक्ति मेरी हिय धारै।
सब जीवनि पै दया करैं नहिँ जीवन मारैं॥
सदा सत्य व्यवहार विप्रके ये ही सब गुन।
इन गुन तैं ही करैं जगत कूँ वशमहँ द्विजगन॥
द्विज स्वभाव मैंने कहे, ब्राह्मण तन महँ रहहिँ सब।
करै वृत्ति कैसी रहै, सुनो विप्रको धर्म अब॥

—:o:—

ब्राह्मण वृत्ति और धर्म

(१२७३)

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥*

(श्रीमा० ११ स्क० १७ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्ण द्विज तीनि कहावैं।
यज्ञ, दान, अध्ययन तीनि को धर्म बतावैं॥
पढ़ैं विप्र सब वेद द्विजनिकूँ फेरि पढ़ावैं।
स्वयं यज्ञ नित करैं द्विजनिकूँ यज्ञ करावैं॥
देहिँ दान श्रद्धा सहित, लेहिँ विवश ह्वै वृत्ति हित।
रहैं तपस्या महँ निरत, परमारथ महँ रखहिँ चित॥

धर्म और सबकी वृत्तियाँ पृथक् पृथक् बनायी गयी हैं। आर्य वैदिक सनातन धर्म में वर्णाश्रम के ऊपर बहुत ही गंभीरता के साथ विचार किया गया है। यह मनुष्य प्राणी जितना ही अधिक

---

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव! यज्ञ करना, दान देना और वेद पढ़ना ये तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के ही लिये विहित धर्म हैं। किन्तु दान ग्रहण करना, वेदों को पढ़ाना और यज्ञ कराना इन कार्यों को ब्राह्मण ही करें।"

बुद्धिमान है उतना ही अधिक उच्छृंखल भी है। यदि इसे धर्मका भय न हो तो यह पशुसे भी बढ़कर हो सकता है। और धर्मको पकड़े रहे तो यह संसार में रहकर भी जीवन्मुक्त हो सकता है। हमारे यहाँ धर्म शब्द अत्यंत व्यापक है। इसमें स्वभाव, वृत्ति, कर्तव्य, सदाचार तथा पूजा पद्धति सभीका समावेश है। जलका धर्म शीतलता है, अग्निका धर्म उष्णता है, यहाँ धर्म शब्द व्यवहार में व्यवहृत हुआ है। ब्राह्मणका तो दान लेना धर्म ही है। यहाँ धर्म वृत्ति अर्थ में लिया गया है। कोई राज कर्मचारी अपने पद पर स्थित है, किसीकी उसने सहायताकी उसने उसके प्रति कृतज्ञता प्रकटकी तो राज कर्मचारी कहेगा—"इसमें धन्यवादका मैंने कौनसा कार्य किया। यह तो मेरा धर्म ही है। यहाँ धर्म कर्तव्य पालनके अर्थ में व्यवहृत है। अपने गाँवकी लड़की दूसरे गाँव में विवाही है। धर्मभीरुपुरुप उस गाँव में जाता है लोग उससे खाने पीनेको कहते हैं, तो वह कहता है, इस गाँव में तो हमारी लड़की विवाही है। यहाँका जल पीना धर्मके विरुद्ध है। यहाँ सदाचारके अर्थमें लिया गया है। कोई आदमी बहुत पूजा पाठ करता है, लोग कहते हैं वह बडा धार्मिक है। यहाँ धर्म पूजा पद्धतिके लिये व्यवहार किया गया है। एक आदमी है, झूठ-सच बोलता है, बुरे कर्म भी करता है, किन्तु किसीके हाथका छुआ भोजन नहीं करता। किसी दिन उसने रोटी बनाकर रखी, किसी दूसरे ने उन्हें छू दिया, तो वह बिगडकर कहता है—"हमने इतने दिन नौकरीकी, झूठ बोला, चोरी करी, व्यभिचार किया, किन्तु अपना धर्म नहीं छोडा।"

यहाँ धर्मका अर्थ कुल परम्परागत भोजनकी छूआ-छूतसे है। इस प्रकार धर्म शब्द बडा व्यापक है। इसीलिये धर्मके साथ कुछ लगा देते हैं, जैसे राजधर्म ब्राह्मणधर्म, वैश्यधर्म, वर्णधर्म कहने से उस वर्णका कर्तव्य और उस वर्णकी आजीविका से है। जिस

वर्णकी जो आजीविका निश्चय करदी है, उसे उसी आजीविका से निर्वाह करना चाहिये। यदि उस आजीविका से निर्वाह नहीं होता, तो उसके लिये आपद्धर्म पृथक् है। सामान्यतया तो जिसकी जो वंश परम्पराकी आजीविका हो, उसे उस आजीविका का परित्याग नहीं करना चाहिये। किसीका वंश परम्परागत काम बर्तन बनानेका है, कपड़े सीनेका है या खेती करनेका है, तो उसे अपने पैतृक धंधेको कभी भी न छोड़ना चाहिये चाहें वह दोष युक्त और नीचही कर्म क्यों नहो। महाभारत में व्याधगीता है। जातिका व्याध था, उसका वंशपरम्परा का काम मांस बेंचना था। उसने उसे नहीं छोड़ा। इस कार्यको करते हुए भी वह महान् ज्ञानी हुआ। अच्छे-अच्छे ब्राह्मणोंको उपदेश देता था। उसने अपना पैतृक धर्म नहीं छोड़ा। हाँ यदि किसीका पैतृक कर्म चोरी करना हो, मदिरा मांस बेचना हो, नाटकों में स्त्री बनकर या राजा बनकर उससे धन कमाना हो, लोहे या चमड़ेका व्यापार करना हो, ये यदि पैतृक कार्य भी हों और इन्हें कोई छोड़ दे तो उसे दोष नहीं लगता। अन्यथा पैतृक कार्योंको छोड़ने से दोष लगता है। इससे समाज में शान्ति नहीं रहती। लोगों में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, एक दूसरेकी आजीविका छीनना चाहते हैं, संघर्ष होता है, अशान्ति बढ़ती है। जब लोग अपने-अपने धर्मोंको छोड़कर पर धर्मोंको अपनाते हैं, परस्पर में कलह करते हैं उसीका नाम कलियुग है। कलियुगके अन्तमें वर्ण धर्म नहीं होता। सब एक वर्णके म्लेच्छ हो जाते हैं। या आदि सतयुग में जब विशुद्ध धर्मही धर्म रहता है तब भी वर्णोंका विभाग नहीं रहता। बीचके समयों में तो वर्णाश्रम धर्मोंका पालन अत्यावश्यक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! ब्राह्मणोंका स्वभाव वर्णन करनेके अनन्तर भगवान् वासुदेव उद्धवजी से ब्राह्मणधर्म का तथा उनकी वृत्तिका वर्णन करते हुए कहने लगे—"उद्धव! ब्राह्मण, क्षत्रिय

और वैश्य इन तीनोंकी ही द्विज संज्ञा है। द्विज उसे कहते हैं जिसका दो बार जन्म हो। जैसे पक्षियोंका एक बार तो तब जन्म होता है जब वे अंडाके रूपमें माताके पेटसे निकलते हैं। कुछ दिनों में जब अंडा पक जाता है, तो अंडाके फूटने पर फिर उनका दुबारा जन्म होता है, इसलिये पक्षियोंका भी नाम द्विज है। दाँतोंको भी द्विज कहते हैं एक तो बालकपन मे दूधके दाँत निकलते हैं, कुछ दिनमें वे गिर जाते हैं, तो पक्के दाँत निकलते हैं, इसलिये दाँतोंकी भी द्विज संज्ञा है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके बालकोंका एक जन्म तो माताके उदरसे जब बाहर आते हैं तब होता है। दूसरा जन्म जब शिक्षा दीक्षा लेकर गुरुकुल से बाहर आते हैं तब होता है। शूद्रोंके लिये गुरुकुलवासकी आवश्यकता नहीं समझी जाती थी, इसलिये वे द्विजेतर शूद्र कहलाते हैं।"

जिनकी द्विज संज्ञा है उन तीनो का धर्म एक ही है। जैसे वेद पढ़ना तीनोंका ही धर्म है। यज्ञ करना तीनोंको ही आवश्यक है, तीनोंका ही कर्तव्य है।

उद्धवजी ने पूछा—"जब तीनोंका धर्म एक ही है, तो फिर इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा क्यों है ?"

भगवान् ने कहा—"वृत्तिके कारण इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा होगयी है। स्वभाव भी तीनोंका पृथक्-पृथक् होता है। स्वभाव वर्णन तो मैं कर चुका अब ब्राह्मणकी वृत्तिका वर्णन करता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! ब्राह्मण जन्म से माना जाता है या कर्मसे ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जन्म और कर्म दोनोंसे ही ब्राह्मण माना जाता है। ब्राह्मणके वीर्यसे ब्राह्मणी में जो उत्पन्न हो, जिसके ब्राह्मणोचित संस्कार हुए हों और जो ब्राह्मणों के से कर्म करता हो वही ब्राह्मण है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन ! कोई आदमी है, उसका जन्म तो ब्राह्मण वंश में हुआ है, किन्तु वह कर्म करता है म्लेच्छों जैसे तो उसे ब्राह्मण कहें या म्लेच्छ ?"

भगवान् ने कहा—"जन्मसे तो वह ब्राह्मण है ही, किन्तु कर्मोंके द्वारा वह पतित हो गया है। ऐसे ब्राह्मण धर्मको पतितही मानना चाहिये। राजा उससे बेगार करा सकता है। फिर भी उसकी संज्ञा तो ब्राह्मण ही रहेगी। उसके विपरीत जो शूद्र है, किन्तु गुणों में ब्राह्मणोंसे भी अधिक है तो उसका ब्राह्मणवत् आदर सत्कार करना चाहिये। किन्तु उसे अनापत् काल में अपनी वृत्तिका परित्याग न करना चाहिये। शूद्रको कभी आपत्ति में भी ब्राह्मण वृत्तिको न स्वीकार करना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"वेद पढ़ना. यज्ञ करना, दान देना यह तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंका धर्म हुआ, अब ब्राह्मणकी वृत्ति क्या है। वह अपना योगक्षेम कैसे चलावें। निर्वाह कैसे करें ?"

भगवान् ने कहा—"ब्राह्मण वेदों को पढ़कर स्वयं भी वेद पढ़ावें। जो ब्रह्मचारी उसके समीप वेदाध्ययन के निमित्त आवें। वे नित्य भिक्षा लावें, उसी भिक्षा मे से आचार्य ब्राह्मण भी निर्वाह करे। ब्राह्मण वेतन लेकर किसीका नौकर बनकर अध्ययन न करावे। वह स्वयं समर्थ होकर अपने शासन में छात्रोंको रखकर पढावे।"

उद्धवजी ने कहा—"यदि भगवन् ! इससे निर्वाह न हो तो ?"

भगवान् बोले—'तब एक काम करे, जो लोग यज्ञ करावें, उनके यज्ञादि कराके उनसे जो दक्षिणा मिले, उससे निर्वाह करे। द्विजोंके संस्कार कराके अथवा नित्य नैमित्तिक तथा काम्य यज्ञोंको कराके उसकी दक्षिणासे अपना निर्वाह करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! यदि दक्षिणा द्रव्यसे भी काम न चले, तब क्या करे।"

भगवान् बोले—"तब सत्पात्रसे श्रद्धापूर्वक दान लेकर उसीसे कार्य चलावे। दान लेना ब्राह्मणके लिये उत्तम पक्ष नहीं है। नित्य दान प्रतिग्रह लेनेसे ब्रह्म तेज नष्ट हो जाता है। अतः दान लेने में ब्राह्मणको कभी भी रुचि न दिखानी चाहिये। यथा शक्तिदानसे बचे ही रहना चाहिये। यदि अध्यापन यज्ञ कराने या दान लेने में परावलम्बन अनुभव हो या दीनता दिखायी दे, तो सर्वोत्तम पक्ष तो यह है, कि शिलोच्छ वृत्तिसे ब्राह्मण निर्वाह करे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! शिलोच्छवृत्ति क्या होता है?"

भगवान् बोले—"खेत में से जब किसान अन्न काट ले जाय और उसमें जो कुछ शेष रह जाय, उसे बीनकर उसीसे निर्वाह करनेका नाम शिलवृत्ति है। जो अन्न खेत में शेष रह जाता है उसका नाम शिला है। उञ्छ उसे कहते हैं कि जहाँ अन्न बिकता हो, उस स्थान में चला जाय, अन्न बेचते समय इधर-उधर जो दाने छिटक जायँ उन्हींको कबूतरकी भाँति बीन लावें। उस अन्नका नाम उञ्छ है। कबूतरकी भाँति अन्न चुगकर उससे निर्वाह किया जाता है, इसलिये इसका नाम कापोती वृत्ति भी है। ऐसे कापोती वृत्ति वाले ब्राह्मण बड़े दुर्लभ हैं, उनका तप निस्पृहताके कारण नित्य प्रति बढ़ता ही जाता है। कलियुग में ऐसे ब्राह्मण देखनेको न मिलेंगे केवल उनकी कथा शेष रह जायगी।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! कोई ब्राह्मण शिलोच्छ वृत्तिसे निर्वाह करे तो उसे दिनभर तो दाने ही बीनने में लग जायगा। कब पूजापाठ करे, कब पुस्तकें लिखे, कब दूसरे मनोरंजनके सांसारिक कार्य करे?"

हसकर भगवान् ने कहा—"दिनभर लग जाय, तो क्या हानि ? यह भी तो तप ही है। उसका जीवन ही सबसे बड़ा ग्रन्थ है तपस्वी ब्राह्मणको संसारी भोग और मनोरंजनकी आवश्यकता नहीं रहती। ब्राह्मणका शरीर तपस्याके लिये बनाया ही गया है, उसे सुख तो परलोक में जाकर मिलेगा। इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्तोष पूर्वक दीनता और परावलम्बनसे रहित होकर अपने अति निर्मल महान् धर्मका निष्काम भावसे पालन करता है, वह सर्वात्म भावसे मुझे ही आत्मसमर्पण करके अनासक्त भावसे अपने घर में ही रहता हुआ परम पदका अधिकारी बन जाता है। उसका जीवन तो त्याग और तपस्यामय है ही। वह चाहें वानप्रस्थ या सन्यास आश्रम न भी धारण करे तो भी उसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्। ऐसे ब्राह्मण पर प्रारब्ध वश कदाचित् विपत्ति आजाय, तो समाजका क्या कर्तव्य है।"

भगवान् ने कहा—"उस समय समाजका महान् कर्तव्य है कि ऐसे आपत्तिग्रस्त भक्त ब्राह्मणकी सब प्रकारसे सहायता करे। ऐसे ब्राह्मणकी जो सहायता करते हैं, उनकी सहायता मैं करता हूँ, जो उन्हें संसारी दुःखोंसे उबार लेते हैं, उन्हें मैं संसार सागरसे सदाके लिये उबार लेता हूँ। विचारवान् शासकको ऐसे तपस्वी, ज्ञानी ब्राह्मणोंका ध्यान रखना चाहिये। वह शासक शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जिसके शासन में बुद्धिजीवी, तपस्वी, सुयोग्य ब्राह्मण धनके कारण क्लेश पाते हैं। जो राजा ऐसे योग्य व्यक्तियोंका ध्यान रखता है वह सूर्यके समान प्रकाशित हो जाता है। इस लोक में

उसकी विपुलकीर्ति होती है। मरकर स्वर्गमें इन्द्रके समान स्वर्गीय ऐश्वर्यको भोगता है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! यह तो आप सत्ययुग, त्रेता और द्वापर आदि युगोंको बात कह रहे हैं। कलियुग में तो खेत में बचे अन्नको शूद्र बीना करेंगे। अन्नके दाने भी तपस्वियोंको अन्नकी मंडी में न मिलेंगे। यज्ञ कोई करावेगा नहीं, वेद पढ़ेगा नहीं, दान देने में रुचि न होगी। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण अपना निर्वाह कैसे करें?"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी! तब ब्राह्मणको आपद धर्मका आश्रय लेना चाहिये। वह खेती करे, गौसेवा करके उससे जीविका चलावे, व्यापार करे, लोहे, तेल तथा अन्यान्य रसोंका व्यापार न करे। जहाँ तक हो व्याजसे निर्वाह न करे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! इतनेसे भी निर्वाह न हो, तो क्या करे?"

भगवान् ने कहा—"तब निर्वाहके लिये आजीविकाके लिये क्षत्रिय वृत्ति भी धारण करले। अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध करे, किन्तु नीच वृत्ति कभी न करे। जैसे पहरेदारी करना, इधरसे उधर वस्तु ले जाना। धनिकोंके पानी भरना या और भी हेय कर्मोंको करना। इन कार्योंके करनेसे ब्राह्मण पतित हो जाता है। श्वानवृत्ति करनेसे ब्राह्मणका ओज, तेज सभी नष्ट हो जाता है। इसलिये ब्राह्मणको शक्तिभर अपनी ब्राह्मणताका पालन करते हुए आपद् धर्मोंका पालन करना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मैंने ब्राह्मणका स्वभाव धर्म और वृत्तिके सम्बन्ध में तो सुना। अब आप क्षत्रियका स्वभाव धर्म और उनकी वृत्तियोंको मुझे और बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उद्धवके पूछने पर भगवान् ने जैसे क्षत्रियके स्वभाव आदिका वर्णन किया उस कथा प्रसंगको मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

विप्रवृत्ति तजि नहीं नीच कारज अपनावे।
गौ कृषि अरु व्यापार वृत्ति तें काज चलावे॥
अथवा लेके शस्त्र युद्ध महँ लड़िवे जावे।
धर्मयुद्ध तें कबहुँ पैर पीछे न हटावे॥
आपद् धर्म अनेक हैं, सदाचार कबहुँ न तजै।
कर्म वचन मन तैं सदा, अघहारी हरिकूँ भजै॥

—:8:—

क्षत्रिय स्वभाव

(१२७४)

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

क्षत्रिय वर्ण स्वभाव सुनो उद्धव मोतैं अब ।
तेजस्वी, बलवान्, धीर अति, सहै दुःख सब ॥
शूरवीर रणधीर दान महँ रुचि नित राखै ।
होवे परम उदार दीन वानी नहिँ भाखै ॥
करत रहे उद्योग नित, थिरता रखि कारज करै ।
दीन दुखिनि के दुख कूँ, स्वय दुख सहिकें हरै ॥

दूसरों की रक्षा या तो बल से की जाती है या तप से । जिसमे बल नहीं,तप नहीं, वह कितना भी बुद्धिमान् क्यों न हो, पर मुखापेक्षी बना रहेगा । उसे अपने जीवन निर्वाह के लिये दूसरों का सहारा लेना पडेगा ।

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता और ऐश्वर्य ये क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव हैं ।"

तपस्या और नल से रहित पुरुषों की क्षमा वास्तविक क्षमा नहीं, निर्बलता है। अतः जिस राष्ट्र को। अपना अस्तित्व बनाये रखना है, उसे सर्वप्रथम शक्ति संचय करना चाहिये। जिस राष्ट्र मे क्षात्र धर्म जितना ही न्यून होगा, वह राष्ट्र उन्नति की दौड में उतना ही अग्रणी समझा जायगा। समस्त राष्ट्रों का सगठन, विगठन उसके क्षात्र धर्म पर ही अवलम्बित है।

सूतजी नैमिषारण्य निवासी ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से क्षत्रिय स्वभाव के सम्बन्ध मे प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव! क्षत्रियों में जन्म जात कुछ गुण होते हैं। उनकी स्वाभाविकी प्रकृति सम्बन्धी जो गुण हैं उनका मैं अत्यत सक्षेप मे वर्णन करता हूँ।

(१) तेज—क्षत्रिय मे जन्मजात तेज होता है। तेज उसे कहते हैं, जिसे देखकर आततायी स्वयं ही भयभीत हो जायँ, जिससे आँख मिलाने का किसी को साहस न हो। एक राजा थे, वे एकाक्षी थे और उनके मुख पर शीतला के दाग भी थे। उनके समीप रहने वाले एक सेवक से किसी ने पूछा—"क्यों भाई! तुम्हारे स्वामी एकाक्षी है?"

उसने कहा—"नहीं तो, मुझे तो पता नहीं कि उनके एक आँख नहीं है।"

पूछने वाले व्यक्ति ने कहा—"नहीं, अवश्य ही वे एकाक्षी हैं।"

सेवक ने कहा—"होंगे, मैं तो उनके समीप इतने दिनसे हूँ मेरा तो कभी साहस ही नहीं हुआ कि उनके मुख की ओर देख सकूँ।"

इस कहानी के कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि सच्चा क्षत्रिय तेजस्वी होता है, उसके सम्मुख आँख उठाने का किसी का साहस नहीं होता था। राजा नहुष ऐसा तेजस्वी था कि जिसकी ओर देख लेता, उसका तेज हर लेता था। ऋषियों ने उसे जो शाप

दिया वह छिप कर दिया। क्षत्रिय को देखकर दस्यु भग जाते थे। महाराज वेन यद्यपि क्रूर और नास्तिक था, किन्तु तो भी इतना तेजस्वी था कि दस्यु उसके नाम से भग जाते थे। जो राजा तेजस्वी न होगा, उसका शासन बहुत दिन नहीं चलता। लोग क्षात्र धर्म के तेज के कारण ही अधीनता मानते हैं। दूसरा क्षत्रिय का स्वाभाविक गुण है 'वल'।

(२) वल—वल के तीन भेद हैं सह, ओज और वल। शारीरिक वल का नाम वल है, इन्द्रिय वल का नाम ओज है और मानसिक वल का नाम सह है। क्षत्रिय में तीनों ही वल होते हैं। वह शारीरिक वल में भी अन्य प्राणियों से वलवान् होता है। सुनते हैं भीम, दुर्योधन, कंस तथा जरासन्ध आदि अनेकों राजाओं में दश-दश सहस्र हाथियों के वरावर वल था। अन्धे घृतराष्ट्र में इतना वल था कि दशसहस्र हाथी के वल वाले भीम को यदि वह छाती से लगा कर मसल देता तो उसकी चटनी हो जाती। भीम के भ्रम में उसने लोहे की भीम की मूर्ति को कस कर दवा दिया इससे उसके खण्ड-खण्ड हो गये। जो राजा स्वयं वलवान् न होगा, वह निर्वलों की रक्षा कैसे कर सकेगा।" तीसरा क्षत्रिय का गुण है 'धैर्य'।

(३) धैर्य—विपत्ति आने पर भी जो अत्यंत दुखी न हो, उसे भाग्य का खेल समझकर सह ले वही धैर्यवान् कहलाता है। ऐसे क्षत्रियों के इतिहास पुराणों मे अनेकों दृष्टान्त हैं कि उनके पुत्र का कटा सिर सम्मुख पड़ा है, किन्तु वे अपने धर्म से विचलित नहीं हुए हैं। स्वयं कमर कस कर युद्ध में कूद पड़े हैं। विपत्ति में धैर्य रखना यह क्षत्रिय का परम गुण है। पांडव राजकुमार होकर वन-वन भटकते रहे, किन्तु उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा। एक राजा का राज्य छिन गया। सर्वस्व चला गया। किसी ब्राह्मण ने उससे पूछा—"राजन्! अब आपके पास रह ही क्या गया है?"

उसने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरे पास अब एक मात्र धैर्य ही शेष है।"

ब्राह्मण ने कहा—"महाराज ! यदि आप के पास धैर्य है तो सब कुछ है। अभी आपका कुछ भी विगडा नहीं है।"

राजाके धैर्यका ही परिणाम यह हुआ कि उसके बिछुडे हुए स्त्री बच्चे मिल गये। अपने सम्बन्धी राजाओं की सहायता से उसने पुनः अपना गया हुआ राज्य प्राप्त कर लिया। राजा का चौथा गुण है 'वीरता'।

(४) वीरता—क्षत्रिय बालक जन्म से ही वीर होता है। अभिमन्यु ने माता के गर्भ में ही वीरता की कहानियाँ सुनकर चक्रव्यूह भेद का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। क्षत्रिय बालकों को वीरता की बातें बतानी नहीं पडती थीं, वे पेट में से ही सीखकर आते थे। शकुन्तला का पुत्र भरत जब दो तीन ही वर्ष का था तभी सिंहो के कान पकड़कर उन्हे पेडों से बॉध देता था, क्योंकि वह वीरवर महाराज दुष्यन्त के वीर्य से उत्पन्न हुआ था। जिसमे स्वाभाविक वीरता नहीं वह क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी ही नहीं। क्षत्रिय का पॉचवा गुण है 'सहनशीलता'।

(५) सहनशीलता—यद्यपि क्षत्रिय सदा सुख मे पलते हैं, किन्तु तो भी वे सुख दुख को समान ही मानते हैं। अवसर आने पर दुःखों को वे हॅसते-हॅसते सहते हैं। युद्ध मे वाण के ऊपर वाण छूटते हैं, सब अङ्ग वाणों से विंध जाते हैं, किन्तु उन्हें वीरोचित सहनशीलता के कारण वे कुछ भी नही समझते। मैंने अपनी ऑखों से भीष्मपितामह की सहनशीलता देखी थी। उनके शरीर में तिल रखने को भी ऐसा स्थान नहीं था, जहॉ वाण न लगे हों, सम्पूर्ण शरीर में वाण चुभ रहे थे। वाणो की शैया पर वे अधर मे लटके हुए थे, घावों मे अत्यंत वेदना हो रही होगी, किन्तु उनके मुख से आह भी नहीं निकलती थी। यही नहीं हम सब लोग उन्हे घेर कर बैठ गये तो उसी असह्य वेदना में उन्होने अपनी सहनशीलता का महान् परिचय दिया। धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर समस्त शान्ति पर्व की कथा सुनायी। छटा क्षत्रिय का गुण है 'उदारता'।

(६) उदारता—उदारता उसे कहते हैं कि जो अपने से कोई याचना करे और उसे उससे भी अधिक प्रसन्नता से दे दे। भारतीय राजाओ के इतिहास में ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं, कि राजाओं ने भिक्षुक के मॉगने पर अपना सर्वस्व दान कर

दिया है। कबूतर को बचाने के लिये अपने शरीर का मांस दे दिया। राजा बलि की उदारता के सम्मुख और कोई दृष्टान्त याद ही नहीं आता, जिसने वामन बने विष्णु को जानकर भी त्रिलोकी का राज्य दे दिया और स्वयं बँध गया। उदारता क्षत्रिय राजाओं की विशेषता थी। सातवाँ गुण है 'उद्योग'।

(७) उद्योग—उद्योग उसे कहते हैं, कि सर्वथा अपने काम में लगे रहना। क्षत्रिय प्रजा पालन के लिये प्रत्येक समय कुछ न कुछ करते ही रहते थे। उनके उद्योग से ही तो आर्य धर्म की विजय वैजयन्ती देश विदेशों में फहराती रहती थी। युद्ध काल में वे वीरता के साथ लड़ते थे और शान्ति काल में बड़े बड़े यज्ञ-याग करके धर्म का संरक्षण संवर्धन करते हुए अपने परलोक को बनाते थे। कलियुगी क्षत्रिय उद्योगहीन हो जायँगे, इसीलिये उनका पतन हो जायगा। क्षत्रिय का आठवाँ गुण है 'स्थिरता'।

(८) स्थिरता—स्थिरता उसे कहते हैं किकिसी को जो वचन दिया हो उस पर दृढ़ रहना अथवा जो सत्संकल्प किया हो उस पर स्थिर बने रहना। राजाओं का यह स्वभाव होता था, जिसे जो वचन दे दिया, उसका वे प्राणपन से पालन करते थे। महाराज दशरथ ने कैकेयी को वचन दे दिया, उसके पीछे अपने प्राणों से प्यारे पुत्रों का विछोह हुआ, स्वयं भी उनका प्राणान्त हुआ, किन्तु वे अपने वचन से विचलित नहीं हुए। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं। क्षत्रिय का नवाँ गुण है 'ब्रह्मण्यता'।

(९) ब्रह्मण्यता—ब्राह्मणों की भक्ति करने का नाम ब्रह्मण्यता है। क्षत्रियों में यही एक भारी गुण था, कि वे इतने बली, शूर, वीर और सामर्थ्यवान् होने पर भी उच्छृंखल नहीं होते थे, वे ब्राह्मणों से सदा डरते रहते थे, उनके यहाँ ब्राह्मणों के लिये कोई अदेय वस्तु ही नहीं थी। अनेक राजर्षियों की जो अब तक कीर्ति है, वह ब्रह्मण्यता के ही कारण है। प्रह्लाद के पुत्र विरोचन ने ब्राह्मण

वेषधारी देवताओं को अपनी आयु दे दी। राजा वलि ने वामन बने भगवान् को त्रिलोकी का राज्य दे दिया। दानवीर कर्ण ने ब्राह्मण बने इन्द्र को अपने जन्म जात कुंडल और कवच दे दिये। समर-भूमि में मरते मरते अपने दाँत तोड़ कर उनमे लगा हुआ सुवर्ण दे दिया। उनका सर्वस्व ब्राह्मणों के ही लिये था। राजा रघु ने अपना सुवर्ण से भरा कोष ब्राह्मण को दे डाला। राजा हरिश्चन्द्र ने ब्राह्मण को अपना सर्वस्व दे दिया। सत्यसन्ध राजा ने ब्राह्मण को अपना शरीर ही दे दिया। उशीनर नंदन राजा शिवि ने ब्राह्मण के लिए अपना शरीर तथा पुत्र दे डाला। काशी के राजा प्रतर्धन ने ब्राह्मण को अपने नेत्र दे डाले। महाराज अम्बरीप ने, सुनते हैं ब्राह्मणों को असंख्यो गौओं का दान दिया था। विदेह पुत्र निमि ने अपना सम्पूर्ण देश ही ब्राह्मणों को दे डाला था। परशुराम जी ने सम्पूर्ण भूमण्डल को जीत कर उसे ब्राह्मणों को दान कर दिया था। शाल्व देश के राजा द्युतिमान् ने महर्षि ऋचीक को अपना राज्य ही अर्पण कर दिया था। राजर्षि लोमपाद ने अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृंग को, महाराज मदिराश्व ने अपनी कन्या हिरण्य-हस्त मुनि को, राजा मान्धाताने अपनी पचासों कन्यायें सौभरि ऋषि को, मरुत्त ने अपनी पुत्री अङ्गिरा को, महाराज शर्याति ने अपनी सुकन्या नामक पुत्री च्यवन महर्षि को तथा और भी बहुत से राजर्षियों ने अपनी सुकुमारी कन्यायें अरण्य में घोर तपस्या करने वाले ऋषियों को दी हैं। जरासन्ध को असुर कहते हैं, किन्तु वह इतना ब्राह्मण भक्त था कि बिना ब्राह्मणों के पूछे वह कोई कार्य नहीं करता था। उसकी ब्रह्मण्यता के ही कारण तो मुझे उससे पराजित होकर अपनी पैतृक भूमि को छोड़ कर यहाँ समुद्र के बीच में द्वारका पुरी का निर्माण करना पडा। जितने भी प्रसिद्ध राजर्षि हुए हैं, वे सबके सब ब्राह्मणों के अत्यंत भक्त थे। ब्रह्म-

ण्यता के कारण ही तो मैं जगत् पूज्य बन गया हूँ। दशवा क्षत्रिय का नैसर्गिक गुण है 'ऐश्वर्य'।

(१०) ऐश्वर्य—क्षत्रिय जन्म से ही ऐश्वर्यशाली होते थे, उनके घर से राजलक्ष्मी कभी जाती नहीं थीं, क्योंकि वे सदा धर्म का आचरण करते थे। कलियुग में राजा रहेंगे ही नहीं, जो रहेंगे वे ऐश्वर्य से हीन होंगे। पिछले राजाओं के ऐश्वर्य के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, वर्तमान समय के लोग तो उन पर विश्वास ही न करेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धव से कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता तथा ऐश्वर्य ये सब क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव हैं, ये मैंने संक्षेप में क्षत्रिय स्वभाव कहे और क्षत्रियों की वृत्ति के सम्बन्ध में मैं तुम से कुछ कहूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी से क्षात्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

यदि होवे सामर्थ्य विप्रकूँ सुख पहुँचावे।
जो माँगे सो देहि नहीं पर तें लौटावे॥
दै विप्रनि कूँ दान अमर बहु भये नृपति गन।
बहुतनि दीयो विप्र वचन तें सरबसु तन धन॥
क्षत्रिनि को ऐश्वर्य नित, रहै सत्य अरु धरम तें।
बड़े पुरुष या जगत महँ, शास्त्रविहित शुभ करम तें॥

—:o:—

क्षत्रिय वृत्ति

(१२७५)

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि ।
चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ *

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

सुतवत पाले प्रजा दूर भय करै सबनिको ।
छटवो लेवे अंश हरै दुख नर नरिनि को ॥
दण्ड शुल्क कर क्षात्र वृत्ति ऋषि वेद बतावैं ।
दस्युनि देहिं भगाइ नृपति ।अति पुण्य कमावैं ॥
वैश्य वृत्ति हू विपति महँ, धारि करैं निर्वाह नृप ।
अथवा विचरैं विप्र बनि, नहिं त्यागैं तप नियम जप ॥

क्षात्रवृत्तिके सम्बन्धमें महाभारतसे बढ़कर उपयुक्त उदाहरण और कहीं नहीं मिलेगा। इसमें क्षत्रियोंको अनापद् तथा आपत्-कालमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये इसके सर्वाङ्ग उदाहरण

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव! आपत्ति-काल में क्षत्रिय वैश्य वृत्ति भी धारण कर सकता है अथवा मृगया द्वारा भी अपना निर्वाह कर सकता है, ब्राह्मण वेष बनाकर भी निर्वाह कर सकता है, किन्तु श्वानवृत्ति का आश्रय न लें।"

है। लोग समझते हैं, पाडवो ने केवल राज्यके लिये ही इतने राजाओका संहार किया। यह विचार उन भौतिक वादियोका है, जो धन को और शासनको ही सब कुछ समझते हैं। शुद्ध सत्वकी और घोर तमोगुणको बाहरसे परिस्थिति प्राय. एक सी ही होती है। जिन्हे आध्यात्मिक ज्ञान नही है, वे दोनों परिस्थितियो को एक ही मान कर उनका वर्णन करते हैं, जिससे वे अधर्मके प्रचारमे सहायक होते है। आदि सत्ययुगमे यह सत्य है कि वर्तमानके सदृश वर्ण-भेद, आश्रय-भेद नहीं था। उस समय कोई राजा भी नहीं था। इतने बडे बडे भवन भी नहीं थे। भोग्य सामग्रियोंकी इतना प्रचुरता भी नहीं थी किन्तु यह असभ्यता नही थी। अज्ञान जन्म स्थिति नहीं थी, घोर उन्नति थी। ज्ञानका परम प्रकाश था। कणाद मुनि वृक्षके नीचे रहते थे, कबूतरके सदृश एक एक कण एकत्रित करकेउससे निर्वाह करते थे। वल्कल वस्त्रोंकी एक कोपीन लगाते थे, भोग सामग्री कुछ भी पास नही रखते थे। अब अज्ञानी दरिद्री निर्धनता के कारण फटा चीथडा लपेटकर दाने चुनता फिरे और जिस किसी प्रकार वृक्षोंके नीचे रह कर निर्वाह करे, तो देखनेमें तो कणाद मुनिकी और इसकी स्थिति एक सी ही होगी, किन्तु वास्तवमें वह ज्ञानकी पूर्णस्थिति है, यह अज्ञानकी। वह अपरिग्रह का स्वरूप है, यह असमर्थता की झाँकी है। पाश्चात्य लोगोंका भ्रम है, अब नित नयी उन्नति कर रहे हैं, नित्य नये आविष्कार कर रहे हैं, यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय, तो हम उन्नति नहीं अवनति कर रहे हैं। प्रकृतिसे बहुत दूर हट रहे हैं। इसी प्रकार की आदि सत्य युग में वर्ण व्यवस्था नहीं थी, यह सत्य है, किन्तु अब जो वर्णाश्रम धर्मका ह्रास हो रहा है, यह अधर्म का अज्ञान का द्योतक है। क्षत्रियोंका धर्म यह है कि वह अनापद् कालमें प्रजाकी रक्षा करके उससे जो कर प्राप्त हो उसीके द्वारा निर्वाह करे। अन्य किसी प्रकारसे निर्वाह

न करे। वर्णाश्रम धर्ममे वृत्तिके ऊपर बहुत बल दिया गया है। सत्य पूछा जाय, तो वृत्ति देखकर ही वर्णका निर्णय किया जाता था। जितने शिल्प और कला सम्बन्धी कार्य थे वे सकर वर्णके लोगोंके कार्य थे। जैसे लोहेकी वस्तुएँ बनाना, चित्र बनाना, सगीत सम्बन्धी कार्य, अन्य हाथके कार्य, मकान बनाना, मिट्टी, काठ तथा अन्य धातुओंकी वस्तुएँ बनाना, कपडे रगना, छापना, चटाई, गलीचे बुनना, कपडा बुनना यावत् कार्य थे सब सकर वर्णके लोगोंके थे। सेना सम्बन्धी समस्त कार्य शूद्र करते थे। कृषि गोरक्षा तथा वाणिज्य के कार्य वैश्य करते थे। राज्य प्रबन्ध चाहे वह एक अथवा आधे ही गॉवका क्यों न हो, क्षत्रिय करते थे। भूमिपति या भूमिधर क्षत्रिय ही होते थे। दान मे या अन्य किसी प्रकार ग्राम पाने पर भूमिपति ब्राह्मण भी हो जाते थे। पढाने का यज्ञ यज्ञ कराने का तथा दान लेने का कार्य ब्राह्मण ही करते थे। असमर्थ होने पर आपद् धर्मोंसे अपनी आजीविका चलाते थे। क्षत्रिय का धर्म तो यही है, कि वह प्रजापालन करके आजीविका चलावे। असमर्थ होने पर ब्राह्मण वेप बनाकर भिक्षा मागे या अध्यापन भी कर सकता है। अथवा भीख मॉगने में उसे लज्जा लगती हो तो जगलोंमे रहे, मृगया करके उसीसे निर्वाह करे। अब आप विचार करें, पाण्डवों ने इस धर्मका कितनी उत्तमता से निर्वाह किया। दुर्योधन ने पाडवोंको जलानेको लाक्षागृह मे भेजा। वहाँ से वे निकल भागे। अब वे निर्वाह कैसे करें। उस समय उन पर आपत्ति थी। अत. ब्राह्मणोंका वेप बनाकर वे भिक्षा पर निर्वाह करते रहे। उन्होंने किसीकी नौकरी नहीं की, सेवा नहीं की। जब द्रौपदीके साथ उनका विवाह हो गया, उनकी आपत्ति टल गयी, अब वे भीख नहीं मॉग सकते थे। वे प्रजा पालन करके ही निर्वाह कर सकते थे। धृतराष्ट्र ने आधा राज्य दे दिया। धर्म पूर्वक प्रजापालन करके राज्य करते रहे।

उस समय ऐसा सदाचार था, कि कोई क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय को युद्ध के लिये या द्यूतके लिये आह्वान करे और वह न जाय तो वह कायर समझा जाता था। क्षत्रियोंमें वह हास्यास्पद माना जाता था। दुर्योधनके आह्वान पर धर्मराज क्षत्रियधर्म समझकर द्यूत खेलने गये और हार गये। अपने प्रणके अनुसार वनमें चले गये। अब वे ब्राह्मण वेष बनाकर भीख तो माँग नहीं सकते थे, राज्य उनका छिन गया था। अब उनके लिये एक ही मार्ग रह गया कि वे मृगयासे निर्वाह करें। वे हरिनोंको मार-मार कर लाते थे उसी को खाते उसीसे अतिथि सत्कार करते। इससे हरिन बड़े दुखी हुए। धर्मराजसे प्रार्थना की कि आप इस बनको छोड़कर चले जाँय। फिर धौम्य मुनिके कहनेसे उन्होंने सूर्यकी आराधना की। एक बटलोही मिल गयी, उससे निर्वाह होने लगा। जब वनवास की अवधि समाप्त हो गयी तो फिर उन्हें अपने धर्मकी चिन्ता हुई। वे युद्ध करना नहीं चाहते थे। दुर्योधन से उन्होंने कहा—"तू हम पाँच भाइयोंको एक एक गाँव दे दे। हम तेरे अधीन रहकर क्षात्र धर्मका पालन करते हुए दिन बिता देंगे। दुर्योधन ने यह भी स्वीकार नहीं किया। तब अन्तमें धर्मकी रक्षाके लिये हम राजपुत्र होकर भीख न माँगे—अन्तमें युद्धका निश्चय करना पड़ा यदि राज्य के ही लिये उन्हें लड़ना था तो श्रीकृष्णचन्द्रजी से दस-बीस गाँव माँग लेते। अपने ससुर द्रुपद से पाँच-पाँच गाँव माँग लेते। किन्तु यह क्षत्रिय धर्मके विरुद्ध था। समर्थ होने पर जो अपने पैतृक राज्यको छोड़कर याचना करता है उस क्षत्रियको पाप लगता है। यही सब सोच समझकर उन्होंने युद्ध किया और अन्त में उस जीते हुए राज्यको छोड़कर धर्म रक्षाके ही निमित्त वीर संन्यास लेकर वनको चले गये। उन्हें राज्य का लोभ नहीं था लोभ था क्षत्रिय धर्मका। हम क्षात्र-वृत्ति द्वारा ही अपना निर्वाह करें, यही उनकी अभिलाषा थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! क्षत्रिय की वृत्तिको बताते हुए भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! क्षत्रियकी वृत्ति प्रजा से दंड शुल्क लेकर निर्वाह करना है। यदि किसी क्षत्रियका राज्य छिन जाय, तो वह ब्राह्मण वृत्तिसे भी निर्वाह कर सकता है, किन्तु दान न ले, न यज्ञ ही करावे। हॉ, अध्ययन करा सकता है, दूसरों को अस्त्र शस्त्र सिखाकर उससे आजीविका कर सकता है। स्यमंतकमणिके कारण क्रुद्ध होकर जब बलदेव जी मिथिला पुरीमें कई वर्षों तक रहे तब वे इसी प्रकार राजकुमारों को अस्त्र शस्त्र सिखाकर अपना निर्वाह करते रहे। इससे भी कार्य न चले तो जंगलों में से फल तोड़कर अथवा मृगया करके भी निर्वाह कर सकता है। यदि बहुत ही दरिद्रता आजाय, कुटुम्बके भरण पोषणका कार्य न चलता हो, तो आपत्तिमें वैश्य वृत्तिको भी धारण करले। खेती करके गो पालन करके अथवा व्यापार द्वारा भी अपनी आजीविका चला सकता है, किन्तु शूद्र वृत्तिको धारण न करे। क्षत्रिय का परम धर्म है, दूसरेकी रक्षा करना, युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, समरको देखकर कभी न घबराना और प्रजाके षष्ठांशसे ही निर्वाह करना। जो क्षत्रिय इन धर्मोंका पालन करता है, वह घरमें रहकर भी स्वर्गका अधिकारी हो सकता है।"

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव यह मैंने अत्यन्त संक्षेपमें क्षत्रियोंका स्वभाव और उनकी वृत्तिका वर्णन किया अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

उद्धव जी ने कहा—'भगवन्! अब मैं वैश्य वर्णका स्वभाव और उनकी वृत्तिको और सुनना चाहता हूँ, कृपा करके वैश्योंका क्या स्वभाव है और उनकी क्या वृत्ति है यह आप मुझे बतावें।

शौनकादि मुनियोंसे सूतजी कह रहे हैं—"ऋषियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने वैश्य वर्ण का स्वभाव और वृत्तिका वर्णन

किया है, उसे भी मैं आपसे कहता हूँ, आप सब समाहित चित्तसे श्रवण करें।

छप्पय

क्षत्रिय धर्म प्रधान प्रजापालन रण थिरता।
दुष्टनि को संहार करै रिपुतैं नहिं मृदुता॥
भाई हू रिपु होहि समर महँ ताहि पछारै।
जग को हावै अहित ताहि बिनु सोचे मारै॥
क्षत्रिय वृत्ति स्वभाव कछु, उद्धव! यह तुम तैं कह्यो।
वैश्य वृत्ति वर्णन करूँ, जो स्वभाव इनने लह्यो॥

—:o:—

वैश्य स्वभाव और वृत्ति

(१२७६)

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥*

(श्रीमा० ११ स्क० १७ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

वैश्य कहावें श्रेष्ठ सरल होवें आस्तिक अति।
यथा शक्ति नित दान पुण्य महँ स्वाभाविक मति॥
विप्रनि सेवा करैं पर्व पै न्योति जिमावैं।
करैं क्रोध जो विप्र ताहि चितमहँ नहिँ लावैं॥
शत, सहस, दश लक्ष वा, अरब खरब हू होहिं धन।
चाहे जितनौ नित मिलै, तबहुँ न होवै तुष्ट मन॥

जो धन पैदा करके उसे धर्म में लगावे, धन पैदा करना तो उसीका सार्थक है। पहिले व्यापारी वैश्योंमें इस बात की प्रतिस्पर्धा होती थी, कि कौन धर्म मे अधिक व्यय करता है। सेठों की श्रेष्ठता

---

*श्रीकृष्ण भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! आस्तिकता, दान शीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणों की सेवा सुश्रूषा करना, धन सञ्चय से सन्तुष्ट न होना ये वैश्य वर्ण के स्वभाव हैं।"

उनके धर्म कार्योंके कारण ही होती थी। सभी की इच्छा होती थी यदि हमने धन कमाकर धर्मशाला, पाठशाला, गौशाला, अन्न क्षेत्र अथवा कूआ बावडी न बनाई तो हमारे पुरुखोंका नाम कैसे चलेगा। पहिले समय में लखपती वह नहीं माना जाता था, जिसके पास लाख रुपये हों, अपितु लखपती उसे कहते थे, जो एक बार में लाख रुपये दान करदें। प्रत्येक बड़े नगरमें एक नगरसेठ होता था। सुनते हैं उनके यहाँ सुवर्णके सिक्के वर्षमें एक बार सुखाये जाते थे और वे पूछते थे, कितनी सूख गयी। नगर सेठ वही कहाते थे, जिनके द्वारसे कभी कोई निराश होकर नहीं लौटता था। समय के प्रभावसे आज सेठ भी धर्मको ढोंग समझने लगे हैं। उनके पाससे भी आस्तिकता अब शनैः शनैः खिसकने लगी।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! वैश्योंका स्वभाव वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! वैश्य वर्णके लोग स्वभावसे ही धर्मभीरु होते हैं। राजासे भी डरते हैं और भगवान्से भी डरते हैं। उनमें निम्न पाँच गुण स्वाभाविक होते हैं।

(१) आस्तिकता—वेद वचनोंमें और भगवान् मे आस्तिक बुद्धि रखनेका नाम आस्तिकता है। वैश्य स्वभावसे आस्तिक होते हैं। वे गौब्राह्मण, साधुसन्त और वृद्धोंको देखकर प्रणाम करते हैं। धार्मिक कृत्योंमें वे श्रद्धा रखते हैं। अपने पुरोहितको अपने परिवार वालोंकी भाँति पालते हैं। उनकी सब प्रकारसे सेवा करते हैं। जहाँ भी जायँगे वहाँ अपने कुल पुरोहितको बुलावेंगे। भगवान्के मन्दिरमें जाकर दर्शन करेंगे, समय निकाल कर भगवान्की कथा वार्ता सुनेंगे। दूसरा गुण है वैश्योंका दानशीलता।

(२) दानशीलता—जो भी धन आवे उसमेंसे कुछ न कुछ दान करने की प्रवृत्ति का नाम दानशीलता है। वैसे व्यवहारमें वैश्य एक एक पैसेका बड़ी सावधानीसे ध्यान रखेगा। किन्तु जब दान करने

चलेगा तो हृदय खोल देगा। उसका कहना है "हिसाब जौ जौ का दान सौ सौ का।" जहाँ हिसाब रखना होगा, वहाँ जौ जौ का हिसाब रखा जायगा और दान करना हो वहाँ चाहे जितनेका दान कर दिया जाय। दान देनेसे व्यापार बढता है, इसीलिये आस्तिक व्यापारियोंके यहाँ आपका कुछ अंश धर्मादाके नामसे निकाला जाता है। वैश्योंके धनकी शोभा दानमें ही है। जो कुलीन वैश्य होते हैं, उनकी कभीभी प्रवृत्ति माँगनेकी नहीं होती है, वे परिश्रम करके खायेंगे और यथाशक्ति कुछ न कुछ देनेकी ही इच्छा रखेंगे। वैश्यकी आयमें सभी अपना भाग मानते हैं। तीसरा वैश्यका स्वाभाविक गुण है दम्भ हीनता।

(३) दम्भ हीनता—जो जैसा नहीं है, वैसा अपनेको प्रकट करने का नाम दम्भ है। जो राजा नहीं है वह दम्भसे राजा बन जाय। सच्चा वैश्य कभी दम्भ न करेगा। व्यापारमें ठग भलेही ले। व्यापारमें झूठ सच दोनों चलते ही हैं, किन्तु वह अपने वैश्यपने को छिपाकर कोई दूसरा ढोंग न करेगा। चौथा वैश्यका गुण है विप्रसेवन।

(४) विप्रसेवन—वैश्य ब्राम्हणोंके भक्त स्वभावसे होते है। बहुत से ब्राम्हणोंकी आजीविका उनके द्वारा चलती है। वे जानते हैं धर्म कर्म ब्राम्हणोंके ही द्वारा होगा, ब्राम्हणोंको जब आजीविकाकी चिन्तासे मुक्त कर दिया जायगा, तो वे अध्यापन, पूजा व पाठ तथा देवार्चन आदि करेंगे। अतः वे अपनी आयका कुछ नियमित द्रव्य ब्राह्मणोंके लिये निकालते हैं। पाँचवाँ वैश्यका स्वाभाविक गुण है धन सचय से कभी सन्तुष्ट न रहना।

(५) धन सञ्चयसे अतुष्टि—कितना भी धन क्यों न आजाय, यह बात मनमें न आवे कि यह पर्याप्त है। जितना भी आता जाय, उतनी ही अधिक तृष्णा बढती जाय, यह वैश्यका स्वाभाविक गुण है।

कोई वैश्य थे, उनके पूर्वज धनिक थे, कुछ दिनोंसे वे बड़े निर्धन हो गये थे, यहाँ तककि उन्हें अन्नके विना उपवास भी करने पड़ते थे। कोई महात्मा आये, उनकी सेवा वे करने लगे। महात्माने पूछा– "लालाजी। क्या चाहते हो ? कैसे तुम चिन्तित हो ?"

सेठजी बोले—"महाराज ! क्या करें, हमारे दिन बुरे आ गये हैं। सोना छूते हैं, तो मिट्टी हो जाता है। आमदनीका कोई स्रोत नहीं, घर मे इतने बालबच्चे हैं, निर्वाह नहीं होता।"

महात्माने पूछा—"तो इच्छा क्या है ?"

सेठजी ने कहा—"महाराज ! इच्छा यही है किसीके सामने हाथ न पसारना पड़े। व्यापार से इतना मिल जाय, कि निर्वाह हो जाय।"

महात्माने कहा—"अच्छी बात है। नौंन, तेल, मिठाईकी दुकान खोल लो।"

वैश्य को व्यापार करने में लज्जा नहीं होती। भले ही करोड़-पति क्यों न हो, वह भी छोटे से छोटा व्यापार करलेगा। लाला जीने दुकान खोल ली। महात्माके आशीर्वाद से वह चलने लगी। घर का निर्वाह भली भाँति होने लगा।

कुछ काल में महात्मा आये और बोले—"कहो, लालजी ! कैसा काम चल रहा है ?"

लालाजीने कहा—"काहे का काम चल रहा है, दिन पूरे कर रहे हैं !"

महात्माने पूछा—"अब तो आप को कभी उपवास नहीं करने पडते। दुकान तो चल रही है।"

लालाजी बोले—"अजी, महाराज। इसे चलना थोड़े ही कहते हैं। पेट तो कूकर सूकर भी भर लेते हैं। न हमारा कोई जानता है न हमारे पुरुखों का ही। कुछ पैसा पैदा करें, धर्म पुण्य मे लगावें।

बाग बगीचा, कूआ बावड़ी धर्मशाला सदावर्त लगावें, तब काम चलना कहा जा सकता है।"

महात्माने कहा—"अच्छी बात है नगर मे कपड़ों की दुकान खोललो। यह भी सब हो जायगा।"

सेठजीने समीप के ही नगर में कपड़ों की दूकान खोलली। बढ़ते बढ़ते कोठी हो गयी। एक धर्मशाला भी बनवादी। प्याऊ भी लगवादी। अन्नक्षेत्र भी खुल गया।"

फिर महात्मा आये और बोले—"सेठजी ! क्या हाल चाल है।"

सेठजीने निराशा के स्वर में कहा—"काहे का हाल चाल है महाराज ! समय को धक्का दे रहे हैं ?"

महात्माने कहा—"अब तो आपकी कोठी बन गयी, धर्मशाला प्याऊ लगगयी। अब और क्या चाहिये।"

सेठजी बोले—"अजी महाराज ! एक छोटी सी कुठरिया बनादी इसे कौन जानता है। अमुक सेठ हैं उन्होंने लड़की के विवाह में दश लाख रुपये व्यय किये। मेरी लडकियाँ बड़ी हो गयी हैं। कुलीन धनिक सेठ हमें धनहीन समझकर विवाह ही नहीं करते। जातिका अपमान बडा बुरा होता है।"

महात्माजीने कहा—अच्छी बात है तुम भी उनकी बराबर हो जाओगे।"

महात्मा का आशीर्वाद फला। सेठजी बहुत बड़े धनिक हो गये। लडकियों का विवाह बड़े बड़े सेठों के यहाँ हो गया। फिर एक दिन महात्मा जी आये और बोले—"सेठजी क्या हाल चाल है ?"

सेठजी बोले—"सब दया है महाराज ! हमे आप सेठ क्यों कहते हैं। सेठ तो महाराज ! वे हैं जिनके हाथ में सम्पूर्ण

बाजारका भाव है। वे चाहे जिस वस्तुका भाव घटादें बढादें। हम तो एक प्रकारके आढ़तिया है ?"

हँसकर महात्माजी ने कहा—"सेठजी ! अब आपके बाल पक गये, मरनेके समीप आये कभी आपकी तृप्ति भी होगी।"

हँसकर सेठजी बोले—"महाराज ! मेरी तृप्ति ही होती, तो मैं भी महात्मा न बन जाता। जिस वैश्यकी धनसे तृप्ति हो गयी। जिसने यह कह दिया कि बस अब नहीं चाहिये। वह वैश्य नहीं महात्मा है। व्यापार में धनसे कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती। लाभात् लोभ ! प्रजायते। लाभसे लोभः बढता ही रहता है। धन सञ्चयकी असन्तुष्टि ही व्यापारको बढाने वाली होती है।"

भगवान् कह रहे हैं—मो, उद्धव ! धन सञ्चयसे सन्तुष्ट न होना यह वैश्यकी स्वाभाविक प्रकृति है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! वैश्यको किस वृत्तिसे निर्वाह करना चाहिये ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! वेद पढना, यज्ञ करना और दान देना ये तीनों बातें तो वैश्य ब्राह्मण क्षत्रियोंकी ही भाँति करे। किंतु उसे अपने निर्वाहके लिये कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और लेन देन ये काम करने चाहिये। इन्हींसे अपनी आजीविका चलानी चाहिये।

कृषि—कृषि उसे कहते हैं भूमिको जोत बोकर उसमेंसे अन्नादि उत्पन्न करना। पहिले इस कार्यको वैश्य ही करते थे। फिर आपद् धर्म समझकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और संकर जातिके लोग भी करने लगे। ब्राह्मण वीर्यसे वैश्य पत्नियोंमें या संकर जातिके अन्य लोगोंसे द्विजाति या सत् शूद्रोंकी पत्नियोंमें जो अनेक जातियाँ बन गयीं वे सब भी कृषि करने लगीं। तब वैश्योंने प्राय: कृषि कर्म त्याग दिया। वैसे कृषि कर्म है वैश्योंका ही कार्य किन्तु अब कृषक जाति भी अलग बन गयी, वैश्य प्रायः कृषिके कठिन परिश्रमसे हटकर व्यापार में लग गये।

२--गोरक्षा--वैश्योंका दूसरा कार्य है गौ पालन । गाय भैंसका पालन करके उनका व्यापार करना । पीछे गोप आभीर एक जाति ही बन गयी जिसने गौ पालनका ही काम ले लिया । यह जाति भी कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य ही है । कर्मणा यह जाति वैश्य ही है । हमारे नंद बाबा गोप ही थे और एक मात्र गोपालनका ही काम उनके यहाँ होता था । इसीलिये मेरा नाम गोपाल पड़ गया ।

३--वाणिज्य--एक वस्तु लेकर बदले में दूसरी वस्तु देनेका नाम वाणिज्य है । जहाँ तक हो व्यापार में सत्यका ही व्यवहार श्रेष्ठ होता है, किन्तु व्यापार में सत्य झूठ दोनोंका ही चलन हो

गया है। व्यापार में लक्ष्मीका वास है। इसीलिये व्यापारी श्रीमान् कहलाते हैं। वैश्य व्यापार मे बडे पटु होते हैं, उन्हें व्यापार सिखाना नहीं पडता, वे माताके पेट मे से सीखे साखे ही उत्पन्न होते है। बनियोंकी वाणी बडी मधुर होती है। जो व्यापारी मधुर भाषी सहनशील न होगा, वह व्यापार मे उन्नति कर ही नहीं सकता। मधुर वाणी होने पर भी वे अपने स्वार्थसे कभी न चूकेंगे। कहावत है "बनिया गुड़को डली न देगा। किन्तु मिश्रीसे भी मीठी बात कह देगा।" व्यापार मे ग्राहकके मनको रखना होता है, जब तक वह आकर्षित न होगा, तक तक व्यापारीको लाभ कैसे होगा। व्यापार एक बड़ी भारी कला है। वह केवल अभ्यास से ही नहीं आती उसके लिये कुछ जन्मजात संस्कारोंकी भी आवश्यकता है। चौथी वैश्यकी वृत्ति है कुशीद-अर्थात् व्याज पर रुपया उठाना।

४—कुशीद—रुपयोंका व्याज पर लेन देन करना कुशीद कहाता है। जैसे दस रुपये किसीको दिये उससे आठ आना प्रति मास व्याजके ले लिये। बहुतसे महाजन अत्यधिक व्याज लेते हैं। यह व्यापार अत्यंत निकृष्ट बताया गया है। वैश्यको यथाशक्ति इसको न करना चाहिये। आपत्ति काल मे करले किन्तु यह धन्धा उत्तम नहीं माना गया है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! यदि वैश्यका कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्यसे कार्य ने चले तो उसे किस प्रकार अपना निर्वाह करना चाहिये?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! यदि वैश्यका व्यापार आदिसे काम न चले, तो उसे नोकरी-चाकरी करके निर्वाह कर लेना चाहिये। आपत्ति काल में शूद्र वृत्ति धारणकर लेनेका वैश्यको विधान है। अथवा और भी कार्य करले। किन्तु ये विधान सदाके लिये नहीं हैं। इन व्यवसायोंको निरन्तर न करता रहे। जब

आपत्ति आजाय, तब इनसे निर्वाह करे। जब समर्थ हो जाय, तब छोड़ दे। इन निम्न वर्णोचित निन्द्य कर्मोंसे निरन्तर द्रव्योपार्जन करनेका लोभ छोड़ दे।

भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव मैंने यह संक्षेप मे वैश्योंके स्वभाव और वत्तिका वर्णन किया, अब शूद्रोंके स्वभाव और वृत्तिको भी सुनलो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जैसे शूद्रोंकी वृत्ति स्वभावका वर्णन किया उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

छप्पय

खेती तैं निर्वाह करै गोपालन नित प्रति।
वस्तुनि को व्यापार करै जोरै धन सम्पत्ति॥
शूद्र वृत्ति हू वैश्य विपति महँ परि अपनावै।
किन्तु न ताकूँ धर्म समुझि नित काज चलावै॥
पालै अपने धर्म कूँ, नृप द्विज देवनि तैं डरै।
पूजै द्विज गौ अतिथि, सुर, सन्ध्या बन्दन नित करै॥

—:०:—

शूद्रोंका स्वभाव और वृत्ति

(१२७७)

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्रलब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

स्वाभाविक रुचि रहै शूद्र की सेवा माहीं ।
कहँ करन द्विज काज करैं नहिं कबहूँ नाहीं ॥
विप्र, धेनु, सुर पूजि नित्य कर्तव्य निबावैं ।
सेवा तैं जो मिलै ताहि तैं काम चलावै ॥
गुरुकुलवास न शौच तप, सेवा तिनको कर्म है ।
सेवा ही तप दान व्रत, शूद्रानको यह धर्म है ॥

धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है । शूद्रों के लिये सेवा कठिन कार्य है, किन्तु उनके लिये अन्य बातों की सुविधायें दे दी गयी है । उनके लिये शौच, आचार, तपस्या, आदि की उतनी आवश्यकता

---

*श्रीभगवान कृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं – "उद्धव ! देवता- ब्राह्मण और गौओं की निष्कपट भाव से सेवा करना, उनकी सेवा द्वारा जो कुछ मिलजाय उसीसे निर्वाह करना और उसी में सन्तोष करना यह शूद्रवर्ण का स्वभाव है ।"

नहीं। वे केवल सेवा के द्वारा ही है स्वर्ग लाभकर सकते हैं। कुछ लोगों का कहना है—स्वार्थी लोगों ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये लोगों को दास बनाने के लिये—ये सब नियम गढ़ लिये हैं। यह उन्हीं का विचार है जो शरीरको और संसारी भोगों को ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं। वर्णाश्रम धर्मका मुख्य उद्देश्य केवल इसी लोकका सुख नहीं है वह तो विशेष ध्यान परलोक पर ही रखता है। धर्म की व्याख्या ही यह है कि जिससे इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में श्रेय प्राप्ति हो सके! सब वर्ण और सब आश्रमों को उपने उपने अधिकारानुसार समस्त कार्य परलोक को ही प्रधान मान कर करना चाहिये। जो शूद्र परलोक प्राप्ति की इच्छा से--भगवत् भावना से--कर्तव्य समझकर सेवा करता है, उसे इसलोक मे भी सुख होता है और उसका परमोक भी बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् उद्धवजी से शूद्रोंकी स्वभाव और वृत्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं—"उद्धव! शूद्रों का एक मात्र स्वभाव सेवा करने का होता है। वे ब्राह्मणों की, गौओं की, देवता और पितरों की पूजा करते हैं। द्विजमात्र की कर्त्तव्य समझकर सेवा करते हैं। सेवा के द्वारा जो प्राप्त हो जाय, उसी से निर्वाह करना। सेवा करने मे उनकी स्वाभाविक रुचि होती है। उनके लिये न शौच का विशेष नियम है, न आचार का, वे सदा सेवा में संलग्न रहे। सबसे कठिन कार्य है तपस्या। सत्ययुग में केवल ब्राह्मण वर्ण के ही लोग तप करते थे। त्रेता में ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों ही तप करते चले। द्वापर मे वैश्यो की भी तप का विधान है और कलियुग में तो चारों वर्ण वाले तप के अधिकारी हैं। सत्ययुग ब्राह्मण प्रधान युग है। त्रेता क्षत्रिय प्रधान। द्वापर में क्षत्रिय वैश्य दोनो की ही प्रधानता है, और कलियुग में वैश्यों के सहित शूद्रों की ही प्रधानता रहेगी। शूद्र अपने स्वाभाविक सेवा

धर्मको छोड देंगे। यह युगका दोष है। वैसे शूद्रोंकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति सेवामें ही होती है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! शूद्रोंकी वृत्ति क्या है?"

भगवान् ने कहा—"शूद्रोंके निर्वाहका समस्त भार द्विजोंके ऊपर है। सेवासे जो भी प्राप्तहो जाय, उसीसे अपना निर्वाह करे। सेवक को जो कष्ट होता है उसका पाप सेवा लेने वालेको लगता है, अत. गृहस्वामीका कर्तव्य है प्रथम सेवकोंको भोजन कराके तब स्वय भोजन करे। अतिथि, बालक, वृद्ध, गर्भिणी स्त्री और घरके

सेवक ये प्रथम भोजनके अधिकारी होते है। गृहस्वामी और गृह-स्वामिनीको इन सबसे पीछे भोजन करना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! यदि शूद्रका सेवासे निर्वाह न हो तो वह क्या करे ?"

भगवान् ने कहा—"शूद्र आपत्ति कालमे गोरक्षा व्यापार आदि भी कर सकता है। अथवा अपनेसे नीचे 'कारु' जातिके लोगोंके कामको कर सकता है।

उद्धवजी ने पूछा—"कारु जातिके कौन होते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ब्राम्हण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विजातियोंकी स्त्रियोंमें शूद्र या अन्त्यज वर्णके वीर्यसे जो प्रतिलोम जातियाँ होती हैं उन्हे कारु जाति कहते हैं। इनका काम चटाई बनाना, चमडेकी वस्तुएँ बनाना, वस्त्र, कम्बल बनाना, कपड़े रगना, तथा अन्यान्य वस्तुएँ बनाकर निर्वाह करना है। शूद्र आपत्ति कालमें इन कार्योंको भी कर सकता है, किन्तु आपत्ति हट जाने पर फिर इन कामोंको न करे। वर्ण धर्मका पालन करना धनके लिये नहीं है अपितु अपने धर्मकी रक्षाके लिये है। अत्यत आपत्ति कालमें तो प्रायः सभी वर्ण सभी वर्णोंका कार्य कर सकते हैं। किन्तु अनापद् कालमे जो स्वधर्मका परित्याग करता है, वह पापका भागी होता है।

भगवान् कह रहे हैं—उद्धव! यह मैंने अत्यंत संक्षेपमे ब्राम्हण वैश्य और शूद्रोंके स्वभाव और उनकी वृत्तियोंका वर्णन किया, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

इस पर उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वर्णतो मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारही सुने थे। अब आपने एक पंचम वर्ण अन्त्यज भी बताया। आपने कहा—शूद्र आपत्ति कालमें अन्त्यजोंके कार्योंको कर सकता है। तो ये अन्त्यज कौन हैं। मनु भगवान् तो कहते हैं, वर्ण चारही हैं पंचम कोई वर्णही नहीं।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! वास्तवमे वर्णतो चार ही हैं। यह अन्त्यज वर्ण एक संकरवर्ण है। संकरदो प्रकारके होते हैं एक अनुलोम संकर दूसरे प्रतिलोम संकर, उत्तम वर्णके पुरुषसे अधम वर्णकी स्त्रीमे जो सन्तान होगी वह अनुलोभ संकर कहावेगी। जैसे ब्राम्हण पुरुषसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रमे जो संतान होगी वह अनुलोम कहावेगी। कुछ ऐसे दस्यु होते हैं जो वर्णाश्रमको नहीं मानते हैं। वे चुराकर ब्राम्हणोंकी लडकियोंको, स्त्रियोंको ले जाते हैं, उनसे जो सन्तानें होती हैं वे चांडाल कहाती हैं। वर्णाश्रमी ऐसे अधर्मियोंके साथ कुछ भी संसर्ग नहीं रखते। क्योकि समाजमें ऐसे लोग मिल जायँगे, तो सम्पूर्ण समाजको ही दूषित कर देंगे। सद्गुणोंकी अपेक्षा दुर्गुणोंका प्रभाव अति शीघ्र हो जाता है। अवगुणोंको साधारण समाजके लोग सरलतासे ग्रहण कर लेते हैं, इसीलिये ये अन्तेवसायी समाजसे वहिष्कृत माने जाते हैं, वर्णाश्रमी इनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। फिर भी कैसे भी हों हैं तो ये समाजके अङ्ग ही। अपने शरीरमे फोडाहो जाय तो उस सड़े अङ्गको काटकर फेंका तो नहीं जाता, इसीलिये इनके लियेभी समाजमें व्यवस्था है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! इन पंचम वर्णके लोगोंका क्या स्वभाव होता है, इनकी वृत्ति क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं इन अन्त्यजोंका स्वभाव और वृत्ति तुम्हें वताता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्ने जैसे अन्तेवसायियों का स्वभावादि वताया है, उसे मैं आपसे कहूँगा।"

छप्पय

शूद्र विपतिके समय करै गोपालन खेती।
अथवा धारै वृत्ति कारु पुरुषनिकी जेती॥
चर्म, चटाई, सूप, ऊनकी वस्तु बनावै।
वनतैं लावै वस्तु वेचिकें काम चलावै॥
आपद् में ही सब करै, पुनि आपद् मिटि जाय जब।
नीच वृत्ति कूँ त्यागी कें, अपनावै निज धर्म तब॥

—:०:—

अन्त्यजों का स्वभाव और वृत्ति

(१२७८)

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्क विग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्पश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम् ॥*
(श्रीमा० ११ स्क० १७ अ० २० श्लो०)

छप्पय

हरण नारि करि उच्चवर्ण की जो लै जावे ।
दस्यु म्लेच्छते अधम नीच चांडाल कहावें ॥
रहैं सदा अपवित्र करैं खल मिथ्याभाषन ।
दें चोरी महँ चित्त न मानहिँ वेद पितरगन ॥
शिखा सूत्र विश्वास नहिँ, व्यर्थ कलह सब तैं करैं ।
कामी, क्रोधी, लालची, ते मरि नरकनि महे परैं ॥

वर्णाश्रम धर्म का भय उच्छृंखलताका नियंत्रण करता है। मनुष्यों की जो विषय भोगों में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, उसको संयम में लाता है। नित्यप्रति अपने पूर्वजों का सदाचार सुनते

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्दजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—" उद्धव ! पवित्रता से न रहना, मिथ्याभाषण करना, चोरी, नास्तिकता, व्यर्थ कलह, काम, क्रोध और तृष्णा ये ही अन्त्यजों के स्वभाव हैं।"

सुनते उसमें आसक्ति अनुरक्ति और प्रवृत्ति हो जाती है। इसलिये तो शास्त्रकारोंने सदाचार श्रवण का इतना भारी माहात्म्य बताया है। जो वर्णाश्रम धमसे पतित हो जाते हैं, वे मनमानी करने लगते हैं। विचारों में नास्तिकता भर जाने से उन्हें परलोकका तो कोई भय ही नहीं रहता। केवल शासकका और राजकीय विधि-विधान का भय रहता है, अतः छल से कपट से उस विधि-विधान से कैसे ही बचकर वे यथेच्छाचार करते हैं और अन्त मे नरक के अधिकारी होते हैं।

सूत जी शौनकादि मुनियो से कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी को अन्त्यजोंका स्वभाव बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! अन्त्यज वर्णाश्रम धर्म से वहिष्कृत होते हैं। वे अपने दुष्कर्मों के कारण ही निन्द्य माने जाते हैं। उनमे ये आठ दुर्गुण रहते हैं। (१) अपवित्रता—म्लेच्छ लोग पवित्रता से प्रेम नहीं करते हैं। वे जिस लोटे से शौच जाते हैं, उसीसे पानी पीलेते हैं। शौच में शौच के पश्चात् आने पर मृत्तिका का प्रयोग नहीं करते। जिस दँतौन को एक बार कर लेंगे उसे ही कई दिन करते रहेंगे। इनके यहाँ जूठे अजूठेका कोई भेद भाव नहीं, भोजन बनाते बनाते उसे स्त्रियाँ चख लेंगी। असन, वसन, आहार व्यवहार तथा आचार में सर्वत्र अपवित्रता होती है। इन लोगों को अपवित्रता मे आनंद आता है। स्नान शौच इन्हें झंझट प्रतीत होता है, कोई द्विज बहुत स्नान पवित्रता करते हैं, तो उन्हें देखकर हँसते हैं, खिल्लियाँ उड़ाते हैं (२) अनृत—अनृत कहते हैं झूठ बोलने को। ये लोग सत्य का महत्व नहीं समझते। एकबार वचन दे देंगे, तुरन्त उसे पलट जायँगे, कुछ देखा है कुछ बतावेंगे, मनसे दूसरा निश्चय करेंगे, प्रकट दूसरा करेंगे। काम किसी उद्देश्य से करेंगे उसे बतावेंगे दूसरे ही उद्देश्य से।

(३) स्तेय—स्तेय कहते हैं, चोरी करने को। ये लोग विषय भोगों को ही सब कुछ समझने वाले होते हैं। दूसरों के धन को लूट लेते हैं। दूसरों की स्त्रियों का अपहरण करते हैं। इनमें वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा तो होती ही नहीं। चाहे जिसकी स्त्रीको रखलेते है। यहाँ तक कि अपने पितृव्य की लड़की को अपनी स्त्री बना लेते हैं। चोरी करने में इनकी स्वभाविकी प्रवृत्ति होती है मृतक गौका मांस तक खालेते हैं।

(४) नास्तिकता—ये न तो वेद को मानते हैं न भगवान् को। भगवान् के मंदिरों में जाकर प्रणाम नहीं करते। भगवत् विग्रहों को पाषाण बताते हैं। देवता, द्विजों और पूज्यों की पूजा नहीं करता। वेद नहीं है, परलोक नहीं है, मूर्ति पूजा कुछ नहीं है, ऐसे प्रलाप करते रहते हैं।

(५) शुष्क विग्रह—शुष्क विग्रह कहते हैं, व्यर्थ की कलह को ये लोग बड़े झगड़ालू और उग्र प्रकृति के होते हैं। बात बात पर लड़ने को उद्यत रहते हैं। मुख से जब बोलेंगे गाली देकर ही बोलेंगे। गाली देना इनके लिये सामान्य बात है। जो भी बात कहेंगे मर्मस्पर्शी कहेंगे।

(६) कामी—ये लोग बड़े कामी होते हैं। अपनी काम वासना की निवृत्ति के लिये उचित अनुचित सभी कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। उच्चजाति की स्त्रियों के सतीत्व नष्ट करने में ये अपना गौरव समझते हैं। काम के पीछे ये हत्यायें करने में भी नहीं चूकते।

(७) क्रोधी—इन लोगों की भौंहें चढ़ी रहती हैं, ये सदा क्रोध में भरे रहते हैं। वध करदेना, किसी का अपमान करना, यह इनका सामान्य सा कार्य है।

(८) तृष्णा—इन लोगों की तृष्णा बड़ी बलवती होती है, दूसरों का कितना भी धन लूट लें दूसरों की वस्तुओं को कितनी

छीनले इन्हें सन्तोष नहीं होता। रात्रि दिन लूट-पाट और अन्याय से द्रव्योपार्जन की चिन्ता में निमग्न रहते हैं।

ये आठ लक्षण अन्त्यजों के हैं। जिनमें ये लक्षण हों वे अन्त्यज हैं। वे पापयोनि हैं, जब तक ये पृथिवी पर रहते हैं अशान्त बने रहते हैं और मर कर घोर नरकों में जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तब तो अन्त्यजपना कर्म से हुआ। अन्त्यज कोई वर्ण विशेष नहीं हैं।

सूतजी ने कहा—"नहीं, महाराज! वर्ण तो चार ही हैं। अन्त्यज कोई वर्ण नहीं है। वर्णाश्रमियों में से ही ये म्लेच्छ होते हैं। यद्यपि आर्य-अनार्य ये सनातन से चले आये हैं। अनार्य ही द्वेषवश आर्यों से लड़ते झगड़ते हैं, उनकी स्त्रियों को चोट कर या बल पूर्वक उठाले जाते हैं, उनसे ही ये वर्णसंकर दस्यु म्लेच्छ हो जाते हैं। म्लेच्छों के संसर्ग से वर्णाश्रमियों में भी कुछ कुछ म्लेच्छपना आ जाता है। ये लोग अपना एक संघ बना लेते हैं और जो वर्णाश्रमी काम, क्रोध, लोभ या अपवित्रता के कारण इन म्लेच्छों में मिल जाते है, वे भी शनैःशनैः म्लेच्छ हो जाते हैं।

शौनकजी ने पूछा—'तो सूतजी! इन अपवित्रता, असत्य, चोरी करना, नास्तिकता, शुष्क कलह, काम, क्रोध और तृष्णा ये सब इनके धर्म हैं? क्या इन्हें ये करने ही चाहिये?

सूतजी बोले—नहीं महाराज! इनके ये धर्म नहीं हैं, स्वभाव है। स्वभाव दो प्रकार का होता है, एक धार्मिक, एक अधार्मिक। जैसे सत्य बोलना यह धार्मिक स्वभाव है, असत्य बोलना अधार्मिक स्वभाव है। जो अधार्मिक स्वभाव को छोड़ देता है, वह पुण्य का भागी बनता है। उसका अन्त्यज और म्लेच्छपन शनैः शनैःछूट जाता है और वह स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है। बहुत से डाकू, भिल्ल सदाचार का पालन करके स्वर्ग के अधिकारी हुए हैं। इस विषय में प्राचीन इतिहास है।

प्राचीन काल में एक डाकू था, उसका नाम था कायव्य। यद्यपि वह डाका डाल कर ही अपना निर्वाह करता था, किन्तु उसमें भी वह मर्यादा पूर्वक कार्य करता था। वह बड़ा शूरवीर बुद्धिमान् और बहुश्रुत था। साधु महात्माओं को वह कभी दुःख नहीं देता था। ब्राह्मणों की सदा रक्षा करता था। वह वनकी एक भिल्लिनी के गर्भ से किसी क्षत्रिय के संसर्ग से उत्पन्न हुआ था। वह वन में ही रहता और बहुत से मृगों को मार कर स्वयं भी खाता उसी से आतिथ्य सत्कार भी करता। साधु महात्माओं को कंद मूल फल देता। कोई डाकू का अन्न न लेना चाहिये, इस भाव से न लेते तो चुपके से उनकी कुटी के द्वार पर रख आता। उसकी चारों ओर ख्याति हो गयी। बहुत से लुटेरे उसके पास आने लगे, वह उनसे भी बड़ा स्नेह करता और उन्हें भी कंद, मूल, फल और मांस आदि खाने को देता।

जो अमर्यादित लुटेरे थे, वे जहाँ भी जिसे पाते वहीं उसे लूट लेते थे। स्त्रियों को भगा लाते थे और व्यर्थ हिंसा भी करते थे। उन सबने सोचा हमारा एक संघ बन जाय तो हम सब सुसंगठित हो जायँ। यह सब सोचकर बहुत से लुटेरे उसके पास गये और बोले—"आप हम सबके राजा बन जायँ।"

उसने कहा—"राजा तो मैं बन सकता हूँ; किन्तु फिर आपको ऐसे मर्यादाहीन होकर डाका न डालना होगा। मेरी बातों को मानना पड़ेगा। मेरे नियमों का पालन करना होगा।

डाकुओं ने पूछा—"वे कौन से नियम हैं हम उन्हें सुने भी तो सही। सुनकर हम बतावेंगे, कि इनका पालन हम कर भी सकते हैं या नहीं।"

यह सुनकर कायव्य डाकू बोला—सुनिये मैं आपको बताता हूँ—

१—आपको स्त्रियों का न तो वध करना होगा, न उनका सतीत्व नष्ट करना होगा और न उनका अपहरण करना होगा।

२—जो डर गये हो आप लोगो से दीन होकर प्राणों की भिक्षा माँग रहे हो, उन्हे न मारना होगा।

३—बालको और तपस्वियों का कभी वध न करना होगा।

४—जो तुम पर प्रहार न करे उस पर तुम भी प्रहार मत करो जो तुम से लड़ना चाहे, उससे तुम भी लडना।

५—ब्राह्मणों को न तो लूटना, न उन्हें मारना,न उनसे कटुवचन कहना, यही नहीं ब्राह्मण की प्राणपण से सदा रक्षा करना।

६—जिस घर में देवता पिता तथा अतिथो का पूजन सत्कार होता हो उस घर में कभी डाका न डालना, तहाँ किसी प्रकार भी विघ्न बाधा उपास्थित न करना।

७—वनमे जो तुम्हारे अधीन हैं उन से कर लेना। जो प्रजा को कष्ट दें उन्हे तुम भी कष्ट देकर प्रजा का उद्धार करो।

८—जो शिष्ट जन्मों को दुःख दे उसके तो प्राण ही हर लेना। उसे जीवित मत छोडना।

९—जो नीच हैं दूसरों का रक्त चूसने वाले हैं उनसे यथेष्ट धन लेना। क्योंकि अधम लोगो के लिये दण्ड ही एक मात्र उपाय है।

१०—इन दस्यु धर्मों का भली भाँति पालन करना। जो दस्यु होकर भी इन धर्मशास्त्र मे बताये हुए दस्यु धर्म का पालन करते हैं, वे लुटेरे होने पर भी तुरन्त सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

कायव्य की बातें सुनकर सब दस्युओं ने कहा—"अच्छी बात है, आप हमारे राजा बन जायँ। हम इन नियमों का पालन करेंगे उनकी सम्मति पाकर कायव्य उन सब का राजा बन गया। उसने डाकुओं को अमर्यादा से हटाकर एक मर्यादा में रखा था, उन्हें पाप से बचाया था, साधु पुरुषों की रक्षा करायी थी, इससे अन्त में वह स्वर्ग का अधिकारी हुआ।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! यदि बुरा स्वभाव हो तो उसे यथा शक्ति त्याग देना चाहिये। इसी प्रकार पैतृक वृत्ति बुरी और निन्दित हो, तो उसको स्वधर्म समझकर मोह न करना चाहिये। निन्दित वृत्ति का त्याग करने से दोष ही नहीं लगता अपितु पुण्य होता है। नाटकों में स्त्री बनकर अभिनय करना, सूक्ष्म वस्त्र पहिन-कर चर्म की पेटी बाँधकर राजा या मंत्री बनना, मद्य बनाना या बेचना, मास काटना या बेचना, लोहे के अस्त्रशस्त्र बनाना या बेचना, चमडे को कमाना या बेचना, ये छै काम वंश परम्परा से चले भी आते हो तो इन्हें त्याग देने से बड़ा पुण्य होता है। जो अन्त्यजों के स्वभाव को और वृत्ति को छोड देता है, वह फिर अन्त्यज नहीं रहता।" शौनक जी ने पूछा—"सूतजी यह तो अन्त्यजों का स्वभाव हुआ अब उनकी वृत्ति बताइये।"

सूत जी बोले—"हाँ, महाराज उद्धव जी ने भगवान् से यही पूछा था। तब भगवान् ने कहा—"उद्धव! चारों वर्ण के लोग कुत्ते के मांस को अत्यत निन्दित बताते हैं। सूकर और कूकर ये विष्ठा खाते हैं। चाडाल लोग कुत्ते को भी मार कर उसे पका कर

खाते हैं इस लिये वे श्वपच या श्वपाक कहलाते हैं। सूअरों को पालते हैं। सूप चटाई, सिरकी आदि बनाते हैं। वन से औषधियों को लाकर बेचते हैं। मृतक के ऊपर के वस्त्रों को ले लेते हैं। मृतक पर चढ़ी मालाओं को पहिन लेते हैं। मृतक के द्रव्य से कार्य चलाते हैं। मृतक-गौ आदि पशुओं का मास खाते हैं। वध करने, सूली फाँसी देने का काम ये करते हैं। इन्हीं सब कार्यों से नगर के बाहर रहकर अपनी आजीविका चलाते थे। कलियुग में तो ये सभी नगरों में रहने लगेंगे और सभी वर्णाश्रमियों में मिल जुल जायँगे। बहुत से विधर्मी म्लेच्छों के संसर्ग से क्रूर और आततायी हो जायँगे। मैंने संक्षेप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यजों के स्वभाव और उनकी वृत्तियों का वर्णन किया, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"प्रभो ! कलियुग में वर्णाश्रम धर्म की प्रधानता ही रहेगी नहीं तो प्रत्येक वर्ण की वृत्ति भी निश्चित न रहेगी। ब्राह्मण भी सुरा मांस बेचने लगेंगे। लोह चर्म और तैल घृत आदि रसों का व्यापार करने लगेंगे। अन्त्यज भी उच्च वर्णों का काम करने लगेंगे। वर्ण धर्म का सामूहिक सामाजिक रूप में पालन कठिन हो जायगा। हाँ वैयक्तिक रूप से कोई वर्ण धर्म का पालन भले ही करले। अतः आप हमे सामान्य धर्म का उपदेश दें। ऐसे व्यापक धर्म बतावें जिसका पालन सभी वर्ण के, सभी आश्रमों के, यहाँ तक कि भूमण्डल के सभी देशों के स्त्री पुरुष सामान्य रूप से सभी कर सकें।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् बोले—"उद्धव ! यह तुम ने बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया। अब मैं तुम्हारे सम्मुख सार्ववर्णिक धर्म का वर्णन करता हूँ, इसे तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।

सूतजी कहते हैं—"भगवान् ने जैसे सार्ववर्णिक धर्म का वर्णन किया उसे मैं आप से अब कहता हूँ।"

छप्पय

दस्यु धर्म कूँ पालि म्लेच्छ हूँ सद्गति पावें।
अधम वृत्ति कूँ त्यागी, करें शुभ शुचि ह्वै जावें॥
उद्धव ! मैंने वर्ण धर्म सब तोइ सुनायौ।
जो पुरान, इतिहास, वेद, शास्त्रनि ने गायौ॥
यह विशेष सब वर्ण के, धर्म कहे मैंने सकल।
कहूँ, धर्म सामान्य अब, जो सब वर्णनि कूँ विमल॥

—:ॐ:—

सार्ववर्णिक धर्म

(१२७९)

अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम क्रोध लोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥*

(श्री भा० ११ स्क० १७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

सत्य, अहिंसा शुद्ध चित्त तैं मनमहँ धारैं।
कबहुँ न चोरी करैं काम बड़ रिपुकूँ मारैं॥
क्रोध लोभतैं रहित होहिं प्रिय करहि सबनिको।
प्राणि मात्र तैं प्रेम करैं हित सब जीवनि को॥
सुखी होहि परसुख निरखि, पर संपति लखि नहिँ जरैं।
स्वयं न प्रिय व्यवहार जो, तिहि औरनिसँग नहिँ करैं॥

कुछ लोग धर्म को अलग मानते हैं और चरित्र तथा सदाचार को अलग। उनके मत में उपासना गृह में जाना, पूजा पाठ करना, परमात्मा की प्रार्थना करना यह तो धर्म है और सत्य,

---

*श्री भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! अहिंसा, सत्य, अस्तेय काम, क्रोध और लोभ से रहित होना तथा प्राणियों की हितकारी और प्रिय चेष्टाओं में संलग्न रहना ये सामान्यतया सभी वर्णों के धर्म हैं।"

अहिंसा परोपकारादि सदाचार हैं। उनका मत है सदाचार के लिये धर्म की धार्मिक क्रियाओं की कोई आवश्यकता नहीं। धार्मिक भी दुराचारी हो सकता है और अधार्मिक भी सदाचारी हो सकता है। किन्तु हमारे यहाँ सदाचार और धर्म दो वस्तु नहीं है। सदाचार धर्म का ही एक अङ्ग है। हमारे यहाँ तो चरित्र सदाचार ये सब धर्म के ही अन्तर्गत हैं, जो सदाचारी नहीं वह धार्मिक कैसे हो सकता है। धर्म का ढोंग भले ही बना ले। आजीविका के लिये धार्मिक क्रियाओं का आश्रय भले ही ले ले वह धार्मिक नहीं। जो आचारहीन है। उसे तो वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो सदाचारी है, वह अधार्मिक बना रहे यह असंभव है। हमारे यहाँ धर्म की व्याख्या विस्तृत है। वैयक्तिक धर्म, कौटुम्बिक धर्म, जाति धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, देश धर्म तथा सार्ववर्णिक धर्म। सब पृथक पृथक् हैं। यह नहीं कि हम ब्राह्मण हैं और दूसरा शूद्र है, तो दोनों के पृथक पृथक् धर्म होने से हम कभी मिल ही नहीं सकते। अपने अपने धर्मों का पालन करते हुए हम सामाजिक क्षेत्र में एक होते हैं। कुछ धर्म ऐसे है, जो सभी वर्णों पर सभी आश्रमों पर यहाँ तक मनुष्य मात्र पर एक से लागू हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने सभी वर्णों के धर्म का निरूपण कर दिया, तब उद्धव जी ने उनसे सार्ववर्णिक धर्मके सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसका उत्तर देते हुए वे कह रहे हैं—"उद्धव ! कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका सभी लोग समान भावसे पालन कर सकते हैं। वे ये हैं:—

(१) अहिंसा—अहिंसा कहते हैं, तन से, मन से, और वाणी से किसी को कष्ट न पहुँचाना। यों संसार में हिंसाके बिना तो कोई जीवित रह ही नहीं सकता। जीव ही जीवोंका जीवन है। एक जीव दूसरे जीव को खाकर ही जी रहा है। अंडज, जरायुज,

स्वेदज और उद्भिज ये चार प्रकार के जीव हैं। एक दूसरे को खाकर ही उनका जीवन है। स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले खटमल जूँए मनुष्यों का रक्तपान करके ही जीते हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी एक दूसरे को खाते हैं। मोर सर्प को खा जाता है। सर्प मेढक को खा जाता है। मेढक छोटे-छोटे कीडे मकोडोंको भक्षण कर जाता है। गाय भैंस घास को खाकर जीती हैं। घास मे जीव है। मनुष्य अन्न फल खाता है, इनमें भी जीव है। दूध पीता है, दूध मे भी जीव है। माता का रक्त ही सफेद होकर दूध बन जाता है। दूध को जलाइये चरबी जैसी गंध आवेगी। ये सब हिंसायें स्वाभाविक हैं। जीव इनसे बच नहीं सकता। मनुष्य प्राणी पशु नहीं है, बुद्धिमान् है। उसे जहाँ तक हो अहिंसा से बचना चाहिये। बिना मास के निर्वाह होता हो, तो अपने मास को बढाने के लिये दूसरो का मास न खाना चाहिये। कर्तव्य बुद्धि से धर्म की रक्षाके लिये किसी को मारना हो य दूसरी बात है, किन्तु यों व्यर्थ मे किसी को कभी भी न मारना चाहिये। जब हम जीवन प्रदान ही कर सकते तो हमें किसी को मारने का अधिकार ही क्या है। इसलिये कभी किसी को मारे नहीं। मन से किसी का अनिष्ट न सोचे। मानसिक हिंसा भी बडी भारी हिंसा है। हम वाणीसे भले ही न बोले, शरीरसे भी कोई कार्य न करें। किन्तु मनसे किसीका अनिष्ट चिन्तन करते रहे, तो यह बहुत बडी हिंसा है। अतः मनसे भी किसीका अनिष्ट चिन्तन न करे। किसीको वाणीसे भी कटु वचन न कहे। वाणीकी हिंसा शारीरिक हिंसासे बहुत बडी है। वाणका घाव तो पुर भी जाता है, किन्तु वाग्बाण सदा हृदय में चुभता रहता है, इसलिये वाणी बहुत विचार कर बोले। जिस बात में दूसरोंका हित होता है। जो सत्य हो, मधुर हो और निश्छल भावसे कहीं गयीं हो ऐसी वाणीको बोलें। इस प्रकार जो तन, मन

और वाणीसे अहिंसाका आचरण करता है,वह स्वर्गका अधिकारी होता है। इसमें वर्ण आश्रमका कोईनियम नहीं। मनुष्य मात्र इस धर्मका पालन कर सकता है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! किसीको कष्ट न पहुँचानाही अहिंसा है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, यह बात नहीं है। कभी-कभी कष्ट न पहुँचाना भी हिंसा हो जाती है। कभी कष्ट पहुँचानेसे भी अहिंसा होती है। कोई आततायी है, किसीकी बहिन बेटी पर बलात्कार कर रहा है, हम-हम यह सोचे कि इसे रोके तो इसको कष्ट होगा, तो हमारा यह विचार हिंसा युक्त हुआ। उस स्त्रीकी रक्षाके लिये यदि मार डालें तो यह अहिंसा ही हुई। आततायीको मारने में कुछ हिंसा नहीं। हिंसा अहिंसाका विशेष सम्बन्ध भावसे है। शास्त्रों में इसका वृहद् रूपसे विवेचन है। कोई जंगली हिंसक पशु था, वह सबको कष्ट देता था। एक दिन वह जल पीरहा था, पीछेसे किसी व्याध ने आकर उसे मार डाला। इस पर देवताओं ने उस पर पुष्पोंकी वृष्टिकी, वह स्वर्गका अधिकारी बना। अतः अहिंसा न मारनेसे ही नहीं होती। अर्जुनको भी यही भ्रम था, कि मैं राज्यके लिये अपने सम्बन्धियोंकी हिंसा क्यों करूँ। इससे तो भीख माँगकर खाना अच्छा। तब मैंने उसे हिंसा अहिंसाका मरम समझाया। धर्मकी रक्षा करते हुए दूसरोंको मनसा वाचा-कर्मणा कष्ट न देना यही अहिंसा है इस परम धर्मका पालन मनुष्य मात्रकर सकते हैं। दूसरा सार्ववर्णिक धर्म है—सत्य।

(२) सत्य—यथार्थ भावोंको बिना छल कपटके व्यक्त करना सत्य है। कभी-कभी सत्यसा दीखने वाला व्यवहार असत्य हो जाता है। कभी असत्यसा दीखनेवाला व्यवहार सत्य हो जाता है। सर्व भूतोंकी हितकी भावनासे यथार्थ व्यवहार सत्य है। समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान,

श्रेष्ठता, धैर्य और दया ये सत्यके ही अन्तर्गत है। कहना चाहिये सत्यके ही प्रकार हैं।

(३) अस्तेय—जिस वस्तुको सबके सम्मुख छू नहीं सकते उसे छिपकर छूना, जिसका व्यवहार निंदित माना जाता है उसका छिपकर व्यवहार करना ये सब चोरीके ही अन्तर्गत है। चोरी न करना यही अस्तेय है दूसरेकी भोग वस्तुको न अपनाना इसीका नाम चोरी न करना है।

(४) काम—क्रोध लोभादिसे रहित होना ये असद् वृत्तियाँ हैं जैसे समुद्र मे लहर उठती रहती हैं, वैसे ही काम-क्रोधादिकी ऊर्मिया हृदयमें उठती रहती हैं। अपनेको इनसे पृथक् समझकर इनके वश मे होना।

(५) भूतप्रिय हितेहा—प्राणियोंकी हितकारिणी तथा प्रिय लगनेवाली चेष्टाओं में निरन्तर तत्पर रहना अर्थात् जो व्यवहार अपने लिये अच्छा लगे उसीका व्यवहार दूसरोंके साथ करना जो अपनेको अप्रिय लगे उसे कभी किसीके साथ न करना। अर्थात् सर्वभूतोंको आत्मवत् मानना।

ये सब ऐसे गुण हैं कि इन्हें चॉडाल से लेकर श्रोत्रियतक समान भावसे कर सकते हैं। ये सब वर्णोंके सामान्य धर्म हैं। यहाँ उन्हें संक्षेप में कहा है, नहीं तो सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्तायुक्त विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शित्व, संत सेवा, सांसारिक भोगोंसे शनैः शनैः निवृत्ति, प्रारब्ध निर्भरता, आत्मचिंतन, मौन, प्राणियोंको अन्नादि बॉटकर खाना, प्राणिमात्र में विशेषकर मनुष्यों में भगवत् भाव रखना, भगवत् कथा श्रवण, नाम गुण कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, अपनेको भगवान्का दास मानना, सख्यभाव तथा आत्म समर्पण करना ये ३० लक्षणवाला धर्म है। इनका आचरण सभी कर सकते हैं। किसी वर्णका हो, किसी आश्रमका हो, किसी

देशका हो, किसी पंथ, सम्प्रदाय, भूत मतान्तरका व्यक्ति क्यों न हो इन तीस धर्मोंका पालन करनेसे वह सद्‌गतिको प्राप्त हो सकता है। मान्यता तो अपनी है। ऐसा आग्रह नहीं है कि इस संप्रदाय को छोड़कर इसमें आओगे, तभी उद्धार होगा। आपकी जो मान्यता हो उसे ही मानो। इन धर्मोंका पालन करो तुम जहाँ हो तहाँ ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो जायगी। मैं किसी सम्प्रदाय विशेषका नहीं हूँ, जो मुझे जिस भावसे भजते हैं मैं भी उन्हें उसी भावसे भजता हूँ, जो मुझ में वात्सल्य रखते हैं, मैं भी पिता माताका भाव रखता हूँ, जो मुझे सखा मानते हैं मैं भी उन्हें अपना सखा मानता हूँ, जो मुझे स्वामी मानकर पूजते हैं, मैं भी उनकी सेवक भावसे सब रेखदेख करता हूँ, उनके छोटेसे छोटे कामको स्वयं करता हूँ। जो मुझ में पति भाव रखते हैं उन्हें मैं अपनी प्राणप्रियाकी भाँति प्यार करता हूँ। उन्हें अपने हृदयका हार बना लेता हूँ, सब समय सोते जागते उठते बैठते उनका स्मरण करता हूँ। मैं भाव भूखा हूँ। यदि भाव नहीं तो उच्चसे उच्च वर्णका भी नीच है, यदि भाव है तो चांडाल भी श्रेष्ठ है। सत्य अहिंसादि धर्मोंका पालन करनेके ही लिये सब विधि विधान है। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में समस्त वर्णोंके धर्म बताये, अब तुम क्या सुनना चाहते हो ?

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैंने आपसे वर्णोंके सम्बध में तो सुना अब मैं आश्रमोंके धर्म और सुनना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं वैसे ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास

चार आश्रम हैं। इनमें सबसे पहिला आश्रम है ब्रह्मचर्य। अतः तुम्हें मैं प्रथम ब्रह्मचारियोंके भेद और उनके धर्म ही बताता हूँ। तुम इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करो।

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान् ने ब्रह्मचारियोंके धर्म बताये उन्हें मैं आपसे कहता हूँ, आप भी सब सावधान होकर सुनें।"

छप्पय

द्विज शूद्रनि अरु सर्व वर्ण को धर्म बतायो।
सबकी वृत्तिनि सहित तोइ संक्षिप्त सुनायो॥
अब जो इच्छा होहि कहूँ जो पूछो उद्धव।
बोले उद्धव। कहो धर्म आश्रम को केशव॥
हरि बोले आश्रमनिमहँ, ब्रह्मचर्य आश्रम प्रथम।
द्विज बालक उपनयनयुत, बसै तहाँ पालै नियम॥

—::※::—

ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म

(१२८०)

द्वितीय प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयन द्विजः ।
वसन्गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

गुरुकुलमहँ नित वास करे भिक्षा करि लावै ।
गुरु सम्मुख धरि देहि देहि जो सोई खावै ॥
धारै नित उपवीत मेखला अरु मृगछाला ।
दण्ड, कमण्डलु, जटा, अक्षकी उरमहँ माला ॥
अलंकार हित दन्त पट, रँगे न उज्वल करे अति ।
भोजन मज्जन होम जप, महँ नहिं बोले धीर मति ॥

सनातन वैदिक आर्य धर्म का मुख्य उद्देश्य है त्याग। एक मात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है। उस त्याग की शिक्षा द्विजातियों को आरम्भ से ही-बाल्य काल से ही-दी

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! द्विजातियों का उपनयन दूसरा जन्म है। उस दूसरे जन्म को क्रमशः पाकर द्विज बालक गुरुकुल में अपनी इन्द्रियों को वशमें करके निवास करे और गुरु के बुलाने पर वेदका अध्ययन करे।"

जाती है। द्विजों में द्विजत्व संस्कारों के ही कारण होता है। जो द्विज संस्कार हीन है, वह नाम मात्र का द्विज है, शूद्र सदृश है। गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नाम-करण, चूडाकर्ण तथा कर्ण वेधन आदि संस्कारों को कराते कराते जब बालक उपनयन संस्कार करा लेता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है और तभी उसकी द्विज संज्ञा होती है। तभी से वह ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से आश्रम धर्म के सम्बन्ध मे प्रश्न किया, तब वे प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम के सम्बन्ध मे बताते हुए कहने लगे—"उद्धव! द्विजाति अपने बाल्यकाल के संस्कार घर पर ही करावे। ब्राह्मण का बालक जब पाँच वर्ष का हो जाय, क्षत्रियका छै वर्ष का और वैश्य का आठ वर्ष का तब उसे घर से गुरु के समीप गुरुकुल में ले जाय। यह उसका द्वितीय जन्म है। गुरुकुल मे जाने पर गुरु उसका उपनयन संस्कार करावे, वेद माता गायत्रीका उपदेश दे, तब वेदारम्भ संस्कार करावे। गुरु के यहाँ उपनयन कराने पर गायत्रीमंत्र का उपदेश प्राप्त होने पर उसकी ब्रह्मचारी संज्ञा हो जाती है, अब उसके धर्म भी घर से भिन्न हो जाते हैं। ब्रह्मचारी ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों ही वर्णों के होते हैं। अतः तीनों के वेष भूषा व्यवहार ऐसे होने चाहिये कि देखते ही मनुष्य पहिचानलें कि यह अमुक वर्ण का ब्रह्मचारी है। तीनों वर्ण के ब्रह्मचारियों के चिन्हों में कुछ न कुछ भिन्नता होती है। गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी गुरू के अधीन रहे और जब गुरुजी बुलावें तब हाथ जोड़कर उनके समीप जाय, प्रणाम करके बैठे। पढ़ने के अन्तर भी प्रणाम करके उठे। अपने ब्रह्मचर्य के अनुरूप चिन्हों को सदा धारण किये रहे। ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ब्रह्मचारी के क्या क्या

चिन्ह हैं ?"

भगवान् ने कहा—मेखला, अजिन, दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और स्वयं बढ़ी हुई जटायें तथा ब्रह्मदण्ड ये ही ब्रह्मचारियों के चिन्ह हैं। अब इनका कुछ विवरण सुनिये :—

(१) मेखला—मेखला मूँज की बनाया जाती है, सुंदर मृदुल सुख स्पर्श पतली मूँजकी रस्सी बटी हो, उसे तिलर करके उसमें तीन या पाँच गाँठें दी हो। कौंधनी के स्थान पर मेखला पहिनी जाती है। ब्राह्मण की मेखला मूँजकी हो, क्षत्रियकी धनुष की या जिस ताँत की बनती है उसकी हो और वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला सनकी बनी हो। अथवा तीनोंकी कुशा की हो। मेखला ब्रह्मचारियों को कर्धनी के स्थान मे अवश्य पहिने रहना चाहिये।

(२) अजिन—अजिन कहते हैं कृष्ण मृगचर्म को। ब्रह्मचारी के लिये मृगछाला सदा ही रखने का विधान है। मृग चर्म को ही ओढ़े। मृगचर्म को आसन पर विछाकर उसे वस्त्र से ढककर उसी पर बैठे। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को काले मृगका चर्म रखना चाहिये। क्षत्रिय ब्रह्मचारी को रुरु नामक मृगके चर्मका विधान है और वैश्य ब्रह्मचारी छाग मेषके चर्मको रखे। इसी प्रकार वस्त्रों के लिये भी है। ब्राह्मण ब्रह्मचारी सनका वस्त्र रखे। क्षत्रिय रेशमका और वैश्य ब्रह्मचारी ऊन का अधोवस्त्र रखे। उत्तर वस्त्र मृगचर्म आदिका ही रखे।

(३) दण्ड—ब्रह्मचारी को दण्ड भी सदा रखनेका विधान है। ब्राह्मण ब्रह्मचारी वेल का या पलास (ढाक) की सीधी लकड़ी का दण्ड रखे। क्षत्रिय वटका या खैरका तथा वैश्य पाकर या उदुम्बर का दण्ड रखे। दण्डकी लम्बाई भी तीनो वर्णोंकी पृथक् पृथक् हो जिससे दूरसे ही लोग पहिचान लें कि यह अमुक वर्णका ब्रह्मचारी है। केश पर्यन्त लम्बा दण्ड ब्राह्मण बालक का हो, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का ललाट तक का और वैश्य ब्रह्मचारी का नासिका पर्यन्त लम्बा

हो। ब्रह्मचारी भिक्षा आदिका जहाँ भी जाय इस दण्ड को साथ ही लेकर जाय। वे दण्ड सुंदर हों, देखने मे अच्छे लगते हों, अग्नि आदि से जले न हो और उनके वल्कल निकाल न दिये हों, किन्तु वल्कल सहित हों। जब बहुत से ब्रह्मचारी दण्ड कमण्डलु लेकर चलते हैं तो बड़े ही भले मालूम होते हैं।

(४) रुद्राक्ष की माला—रुद्राक्ष की माला भी ब्रह्मचारियों को पहिने रहना चाहिये या तुलसी की माला ही पहिने रहे।

(५) उपवीत—यज्ञोपवीत ब्रह्मचारियों को अवश्य धारण करे रहना चाहिये। उसमे ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपासके सूतका, क्षत्रियका सनका तथा वैश्यका ऊनका हो। अथवा तीनोंके सूतके ही हों। यज्ञोपवीतको प्रथम तीन सूत्रोंका ९६ चउओंका करके बटके, फिर उससे त्रिगुणा करके त्रिवृत्त बना कर गॉठ देनी चाहिये।

(६) कमण्डलु—ब्रह्मचारी को जलपात्र सदा अवश्य साथ रखना चाहिये, यह चाहे धातुका हो अथवा काष्टफल आदिका।

(७) जटा जूट—ब्रह्मचारी को बाल न बनवाने चाहिये। सिर के, मूँछोंके, दाढ़ीके, कक्ष (बगल) के तथा उपस्थके इन पांचो स्थानके बालों को रखे रहना चाहिये। इसीलिये उसे पंचकेशी कहते हैं। उसे नखोंको भी न कटाने चाहिये। यदि पंचकेशी नहीं रहना चाहे तो शिखा रखकर मुंडन करादे।

(८) ब्रह्मदण्ड और पवित्री—दोनों हाथोंकी अनामिका उँग-लियोंमे पवित्री पहिनना चाहिये। दायें हाथकी उँगलीमे दो कुशाओं की और बायें हाथकी उँगलीमे तीन कुशाकी चिकनी सुन्दर मृदुल मनोहर पवित्री पहिने। हाथमें यज्ञोपवीतसे बँधा हुआ बहुत सी कुशाओं का मूँठा—जिसे ब्रह्मदण्ड भी कहते हैं—हाथमे धारण किये रहे। ये ही आठ ब्रह्मचारियो के चिन्ह हैं।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! मैंने ब्रह्मचारियों के चिन्हों को तो जान लिया। अब कृपा करके उनके नियमोंको और बतायें। ब्रह्मचारी किन किन धर्मोंका पालन करें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! ब्रह्मचारीका सबसे प्रधान धर्म तो है, सब प्रकारसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना, नित्य भिक्षा माँग कर लाना, उसी पर निर्वाह करना, आचार्यकी सेवामें सदा संलग्न रहना, अग्नि तथा सूर्यकी उपासना करना। गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध जन, अतिथि तथा देवताओंकी पूजा करना तथा वेदाध्ययन करना।

ये ही ब्रह्मचारी के धर्म हैं। ब्रह्मचारी को उपवास तथा तप आदि का विधान नहीं। वह जो अध्ययन करता है वही उसका सर्वोत्कृष्ट-तप है। अब इन नियमों के सम्बन्धमें विशेष विवरण सुनो।

(१) ब्रह्म चर्य—ब्रह्मचर्य ही जीवन है। विन्दुपात ही मरण है और विन्दुधारण ही जीवन है, ब्रह्मचारी को सदा दृढ़ताके साथ ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना चाहिये। ब्रह्मचारी को काम भावना से कभी भी स्त्रियोंकी ओर न तो देखना चाहिये, न उन्हें छूना ही चाहिये और न उनसे विशेष वार्तालाप तथा हँसी विनोद ही करना चाहिये।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्मचारी भिक्षा लेने तो गृहस्थों के घरोंमें ही जायगा। भिक्षा तो स्त्रियाँ ही देंगी, यदि स्त्रियोंसे बातें न करे, उनकी ओर देखे नहीं तो उसका काम कैसे चले?"

भगवान् ने कहा—"काम भावसे देखना, छूना और वार्तालाप करना निषिद्ध है और फिर एकान्तमें निषिद्ध है। सबके सम्मुख शुद्ध भावसे देखने, बोलनेमें तथा भिक्षादिके व्यवहारमें कोई। नहीं, किन्तु स्त्रियोंसे और स्त्री जातिसे अपनी आवश्यकतानुसार ही व्यवहार रखे। इनसे जो अधिक संसर्ग बढा लेता है, उसे अन्तमें पछताना पडता है, उसका पतन निश्चित है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! शुद्ध भावसे जैसे अपनी माता बहिन बेटी से व्यवहार करता है वैसे ही उनसे एकान्त में व्यवहार करे।"

भगवान ने कहा—'हाँ, भैया! यह तो ठीक है। इसमें कोइ दोष नहीं। निन्दा काम व्यवहारकी ही है, किन्तु ब्रह्माजी ने स्त्रियों का अंग प्रत्यग ऐसा बनाया है कि जिसे इतना ज्ञान है कि यह स्त्री है यह पुरुष, उसका मन युवती स्त्रीको एकान्तमें पाकर कभी कभी विचलित हो ही जाता है। सदा नहीं होता, किन्तु शका बनी ही रहती है, इसलिये शंकाके कामको करे ही क्यों। जब यह

जानते हैं कि विप खानेसे मृत्यु हो ही जाती है, तो परीक्षाके लिये विप खाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं। प्रमदाको अग्निकी उपमा दी गयी है और पुरुपको घी भरे घड़े की। अग्नि और घृत एक स्थान पर रहे तो घृत पिघल ही जायगा। इसलिये अपनी सगी बहिनके, अपनी सगी पुत्रीके साथ भी एकान्तमें रहना निपेध बताया है। ब्रह्मचर्यव्रत अत्यन्त कठिन असिधारा व्रत है। लोग बुद्धिमानी के साथ सावधान होकर खड्गकी धार पर चल सकते हैं, जहाँ तनिक भी असावधानी हुइ कि पैर कट जायगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य मे तनिक भी प्रमाद हुआ कि पतन निश्चित है। पुरुप और स्त्रीकी रचना ही उन तत्वोंसे हुई है कि परस्परमें स्वतः आकर्पण हो ही जाता है। एकान्तमें देखने छूने और हँसी विनोद करनेसे फिर मर्यादा रहती नहीं। अतः ब्रह्मचारी को प्राणपणसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि उसका व्रत खंडित न हो, जिस कामसे ब्रह्मचर्य की हानिकी संभावना हो उसे दूरसे त्याग दे। एकान्तमें कभी स्त्रीकी ओर देखे भी नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा— ब्रह्मन्! गुरुपत्नि तो अपनी माताके सदृश है। घर छोड़ने पर वही पालन पोपण करती है, अतः उसे छूनेमें उससे बातचीत करनेमें तो कोई दोप नहीं?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! दोप क्यों नहीं है। यदि गुरु पत्नी वृद्ध हैं तब तो कोई बातनहीं, उनके पैर छूकर प्रणाम करे, वे जो आवश्यकता होने पर पुत्रकी भाँति सेवा करें उसे मातृभाव से कराले। किन्तु गुरुपत्नी युवावस्थापन्न हो तो उसके पैर छूकर भी प्रणाम न करें। दूर से अपना नाम लेकर प्रणाम कर दे। यदि ब्रह्मचारी युवक हो तो उसे आतुरावस्था में भी गुरुपत्नी से न तो शरीर दबवाना चाहिये न केश भराने चाहिये न आँखों में औपधिआदि लगवानी चाहिये। जिस से शारीरिक संसर्ग हो ऐसा व्यवहार युवक ब्रह्मचारी युवती गुरु पत्नी से कभी न करावे।,

न स्त्रियों की बहुत बातचीत ही करें। बातें करते करते उनके अंगों में, उनकी बातों में आसक्ति हो जाती है। स्नान करती या अन्य एकान्त में काम करती स्त्रियों के गुह्य अंगों को कभी न देखे। यदि भूल से दीख जायँ, तो उधर से चित्त को हटाले और और सूर्य दर्शन करके प्रायश्चित्त करें। ब्रह्मचर्याश्रम मे व्रत का पालन ही परम उन्नति है और व्रत का परित्याग ही पतन है। जहाँ दो स्त्री पुरुष एकान्त में बैठे हों, हँसी विनोद या और केलि क्रीड़ा कर रहे हों, उनकी ओर भी न देखे। इस दुष्ट दस्यु और नीच मन का पता नहीं कहाँ बहक जाय। देखो, सौभरि मुनि जल के भीतर डुब्बी लगा कर तपस्या करते थे, वहाँ मत्स्य के मैथुन को देख कर उनकी विवाह करने की तीव्र इच्छा हो गयी और उन्होंने पचास विवाह किये। सारांश यह है कि ब्रह्मचारी को कभी भी भूलसे कोई ऐसा काम न करना चाहिये जिससे व्रत भंग की संभावना हो। सभी उचित उपायों से वीर्य की रक्षा करनी चाहिये। ये ही नियम अविवाहिता कन्या के लिये भी हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! जाग्रत में तो किसी प्रकार मन परनिमंत्रण किया भी जा सकता है, यदि सोते समय स्वप्नदोष हो जाय तो क्या किया जाय?"

भगवान् ने कहा—"स्वप्न भी जाग्रतके ही दोषसे होता है। यदि पूर्व जन्मोंके संस्कार वश, असावधानी में स्वप्नदोष हो जाय, तो जलमे स्नान करके प्राणायाम करे, गायत्रीका जप करे, इससे स्वप्न दोष जनित दोष छूट जाता है। दूसरा नियम है सन्ध्यावन्धन और जपका।

(२) सन्ध्यावन्दन तथा जप—सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय, प्राणायाम, अघमर्षण, सूर्यार्घ्य, उपस्थान पूर्वक सन्ध्यावन्दन करे। वेदमाता गायत्रीका जप करे। द्विजातियों को दोनों समय की सन्ध्या तथा गायत्री जप परमावश्यक है।

(३) समिधाधान—ब्रह्मचारी को नित्य अग्निकी उपासना करनी चाहिये। घृतसे हवन करना चाहिये या वनके कन्डोंसे ही अग्निमें आहुति देनी चाहिये। मन्त्र पूर्वक भस्म धारण करनी चाहिये।

(४) आचार्योपासना—अपने आचार्यमें सदा ईश्वर बुद्धि रखे। शिष्यके सब धर्मोंका निष्कपट भावसे पालन करे। दासकी भाँति सदा सेवामें लगा रहे। गुरुके कार्योंमें कभी ऊँच-नीचका भेदभाव न करे। गुरु जो आज्ञा दें उसे शिरोधार्य करे और उसको शक्ति भर पूरा करे। बिना आज्ञा दिये ही उनके सब कामोंको कर दिया करे वन से उनके लिये फल-फूल समिधा पत्र पुष्प और कुशा ले आवे। जलका घडा भर कर स्वय लावे। आचार्यका कभी भूलकर भी निरादर न करे, उनमें ईश्वर भाव रखे। उनकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना न करे, सदा आज्ञामें तत्पर रहे, क्योंकि गुरुदेव सर्वदेवमय होते हैं। गुरसे पहिले कभी न सोवे। गुरुके सोनेके अनन्तर शयन करे। उनके जागनेके पूर्व जाग जाय। उनके लिये शौचादिकी आवश्यक वस्तुएँ जुटा दे। गुरु जब खडे हों तो स्वय खडा हो जाय। उनके बैठने पर उनकी आज्ञा पाकर बैठे। उनके सम्मुख कभी उच्चासन पर न बैठे। जब गुरु चलने लगे तो हाथ जोड कर उनके पीछे-पीछे चले। सायं प्रात अपना नाम गोत्र लेकर गुरके चरणोंमें प्रणाम करे। पढने जाय तब प्रणाम करे। पढने के अनन्तर भी प्रणाम करके उठे। दायें हाथसे दायें चरणको और बायें हाथसे बायें चरणको छूकर प्रणाम करे। सदा ऐसी चेष्टा करता रहे कि आचार्य मेरे व्यवहार से सन्तुष्ट रहें। थके हों तो उनके चरण दबादे, और भी प्रति समय उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहे।

(५) भिक्षावृत्ति—ब्रह्मचारी की दृष्टि में यावत् स्त्री हैं माता के तुल्य हैं, सभी घर अपने हैं। उसे सग्रह करने का अधिकार नहीं। अत वह अपना निर्वाह भिक्षावृत्ति से करे। सायकाल

और प्रातःकाल दोनों समय द्विजों के घरों से बनी बनायी भिक्षा गुरुकी आज्ञा लेकर माँग लाया करे। ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षा माँगे तो सम्बोधन को पहिले लगावे, क्षत्रिय मध्य मे और वैश्य बालक अन्त में। भिक्षा घरमे स्त्रियों से माँगी जाती है अतः ब्राह्मण बालक कहे—'भवति! भिक्षा देहि" अर्थात् आप मुझे भिक्षा दें। क्षत्रिय कहे—'भिक्षा भवति देहि' और वैश्य कहे "भिक्षा देहि भवति!"

पहिले सभी द्विजों के बालक गुरुकुलों मे जाते थे और सभी भिक्षा पर निर्वाह करते थे। अतः ब्रह्मचारियों को देखकर गृहस्थ यही समझते थे कि हमारे बच्चे ही आ गये, अत' सभी उन्हें दोनों समय अत्यन्त स्नेह से भिक्षा देते थे। सभी गृहस्थी भोजन बनाकर प्रतीक्षा करते रहते थे कि ब्रह्मचारी भिक्षा ले जायँ तब हम घर के लोग प्रसाद पावें। ब्रह्मचारियों को सब लोग अग्रभुक् मानते थे। शनै' शनै. यह प्रथा हटने लगी। ब्रह्मचारी गण भिक्षा माँगने में आलस्य करने लगे। राम राज्याभिषेक के समय माता कौशल्याने स्वयं ही कहा था—'अमुक शाखा के ब्रह्मचारी जो भिक्षा में आलस्य करते हैं और अच्छा भोजन चाहते हैं, उन्हें इतनी सुवर्णमुद्रा दे दो।'' इस प्रकार कुछ लोग गुरुओं को द्रव्य देने लगे, उसी से ब्रह्मचारी निर्वाह करते थे। श्रेष्ठ पक्ष तो भिक्षा ही है यदि सुविधा और श्रद्धापूर्वक मिल सके तो भिक्षा माँगकर उसे गुरु के सम्मुख रख दे। गुरु उसमें से जितनी चाहें अपने अपने लिये रख लें, जितनी दे दें उसी को खाकर सन्तोष करे। जिस दिन गुरु न दें उस दिन उपवास कर जाय। भिक्षा के अतिरिक्त और भी कहीं से कोई कैसी भी वस्तु प्राप्त हो उसे तुरन्त लाकर गुरु के सम्मुख रख दे। अपने पास कुछ भी संग्रह न करे। जो नित्य भिक्षा के अन्न को पाता है, मानों अमृत पान करता है।

(६) मौन—व्यर्थ की इधर उधर की बातें न करे, प्रयोजन की बातें करे। स्नान के समय, भोजन करते समय, सन्ध्यावन्दन और जप करते समय, होम करते समय तथा मलमूत्र त्यागते समय मौन रहे। वैसे भी कभी निपप्रयोजन बातें न करे।

(७) वेदाध्ययन—नित्य गुरु के बुलाने पर नियमित पाठ पढ़े, उसे श्रद्धा और रुचि के साथ श्रवण करे। जो पढ़े उसे याद करके गुरुजी को सुनादे। अनध्यायों के दिनों में, अवकाश के समय में गुरुकुल के अन्य कार्यों को करे।

(८) सेवावृत्ति—जहाँ भी सेवा का अवसर देखे सेवा करे। आश्रम में कोई अतिथि आगया हो, तो उसकी सब प्रकार से सेवा करे। गुरुकुल में जितनी गौएँ हों उनकी सेवा करे, उन्हें चरा लावे, घास पानी दे। सारांश सेवा के अवसर को चूके नहीं। जितना भी शरीर से बन सके, प्राणिमात्र की सेवा करे। ब्रह्मचर्याश्रम में सेवा की शिक्षा ग्रहण करना यही तो प्रधान कार्य है।

(९) सुशीलता—जहाँ भी गौ, ब्राह्मण, गुरुजन, वृद्धजन तथा देवताओं के विग्रह आदि को देखे वहीं उनको प्रणाम करे। सबसे नम्रता के साथ आदर सूचक शब्दों में बातें करे। कभी भूलकर भी किसी का अपमान न करे।

(१०) सादगी और सरलता—ब्रह्मचारी कभी न तो शरीर को सजावे, न वस्त्राभूषणों से अपने को अलंकृत ही करे। वस्त्रों को अत्यन्त उज्वल बनाकर चटक मटक दिखाने को न पहिने। रंग बिरंगे वस्त्रों को न पहिने। दाँतों को भी बहुत उज्वल न करे और न उन्हें पान आदि से रंगे ही। पान न खाय, बहुत भोजन न करे जिससे आलस्य आजाय। आँखों में अञ्जन न लगावे, देह में उबटन लगाकर उसे चमकीली न बनावे, जलमें घुसकर मलमल कर स्नान न करे, स्त्रियों के चित्रों को न देखे, न बनावे, माँस मदिरा की कभी इच्छा भी न करे, भोग बुद्धि से शरीर को

सजाने के लिये न तो पुष्पो की मालाओं को ही पहिने, न शरीर में सुगंधित अंगराग या चंदन का ही लेप करे। सारांश यह है कि उसे बिना किसी बाह्य आडम्बर के अपने व्रत का पालन करना चाहिये और विद्याध्ययन करना चाहिये। जब तक विद्या समाप्त न हो जाय, तब तक उसे गुरुकुल मे ही रहना चाहिये। उपनयन से और अध्ययन समाप्त पर्यन्त उसे गुरुकुल मे ही वास करना चाहिये।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ब्रह्मचारी गुरु के यहाँ कितने दिनों तक रहे?"

भगवान् ने कहा—"नियमानुसार तो जब तक वेदों का अध्ययन न हो जाय, तब तक ब्रह्मचारी को गुरुकुल मे रहना चाहिये। फिर भी सभी युगो में सभी लोग इतने दिन बालको को घर से बाहर रखना नहीं चाहते। इसलिये ब्रह्मचारियों के चार भेद कर दिये हैं। सावित्र, प्राजापत्य, ब्राम्ह और बृहत्, ऐसे इनमें चार प्रकार है। अब इनकी व्याख्या सुनो।"

(१) सावित्र—केवल गायत्री मंत्र ग्रहण करने के लिये ही किया हुआ ब्रह्मचर्यव्रत सावित्र कहलाता है। चारो वेदों का अध्ययन करना सबके लिये संभव नहीं। जो कृषि वाणिज्य तथा गौ पालन आदि कार्य करते हैं, वे अपने बच्चों को ४८, ३६, २४ अथवा १२ वर्ष के लिये गुरुकुल मे नहीं भेज सकते। किन्तु उपनयन न हो, वेदों का अध्ययन न करे, गुरुकुल में वास न करे, तब तक उसकी द्विज संज्ञा होती नहीं। गायत्री सब वेदों की माता है। यदि चारों वेद न पढ़े तो गायत्री का उपदेश तो द्विज मात्र को लेना ही चाहिये। अतः उपनयन के समय मेखला, दंड, कमंडलु मृगचर्म आदि पहिना कर तीन दिन के लिये बालक को ब्रह्मचारी बना देते हैं। इन तीन दिनों में वह गुरु के यहाँ रह कर गायत्री मंत्र का अभ्यास करता है। चौथे दिन उसका

समावर्तन करा कर घर ले आते हैं। पहिले प्रायः वैश्य बालक ऐसा तीन दिन का सावित्र ब्रह्मचर्य व्रत लेते थे। कलियुग में तो सभी द्विजाति बालकों का यही उपनयन संस्कार रह जायगा। अधिक कलियुग आने पर तीन दिन भी न रखकर उसी दिन यज्ञोपवीत वेदारम्भ संस्कार करा कर उसी दिन समावर्तन संस्कार करा दिया करेंगे। बहुत से द्विजातियों के तो उपनयन संस्कार होंगे ही नहीं। जिनके होंगे वे प्रायः विवाह के पहिले एक दिन के लिये नाम मात्र को इस संस्कार को करायेंगे। घोर कलियुग आने पर वह भी न रहेगा।

(२) प्राजापत्य ब्रह्मचर्य—उपनयन संस्कार कराके बालक एक वर्ष तक ब्रह्मचारियों के नियमों का पालन करे, गुरुकुल में वास करे। गायत्री, पुरुषसूक्त तथा और भी वेदों के भाग को पढ़े। एक वर्ष के पश्चात् समावर्तन संस्कार कराके घर आ जाय, इसे प्राजापत्य व्रत करते हैं। पहिले बहुत से क्षत्रियों के बालक इसी व्रत को धारण करके एक वर्ष पर्यन्त गुरुकुल में रहते थे। कलियुग में यह भी न रहेगा।

(३) ब्राह्म ब्रह्मचर्य—उपनयन संस्कार कराके जब तक चारों वेद, तीन, दो, एक या अपनी सम्पूर्ण शाखा को न पढ़ले तब तक ब्रह्मचर्यव्रत पालन करता हुआ गुरुकुल में वास करे। ब्राह्मण बालक इसी व्रत को पालन करते थे। ब्राह्मण वेदों का अध्ययन किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं करते थे। वेदाध्ययन करना हमारा धर्म है, इस भावना से वे अनेकों कष्ट सह कर निस्वार्थ भाव से पढ़ते थे। उन्हीं के कारण वेदों का नाम लोग जानते हैं। बहुत से ब्रह्मचारी तो ५०,६० वर्ष की आयु तक गुरु के यहाँ रहकर पढ़ते थे, तब आकर विवाह करते थे। सामान्य नियम यह था कि बारह वर्ष में एक वेद का अध्ययन समाप्त

होता था। जिसे चारों वेद पढने हों उसे ४८ वर्ष तो वेद पढने को चाहिये। ५, ६ वर्ष की अवस्था में वह गुरुकुल गया होगा। जब तक भी अध्ययन समाप्त न हो तब तक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके गुरुकुल मे वास करने का नाम ब्राह्मव्रत है।

(४) बृहत् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत—जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर। कभी भी समावर्तन सस्कार कराके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश न कर, इसे बृहत् व्रत या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं। यह एक प्रकार का सन्यास धर्म ही है। निवृत्तिमार्ग है। घर को छोडा सो छोड दिया, फिर घर मे प्रवेश ही न किया। ऐसा ब्रह्मचारी या तो गुरुकुल मे ही सदा रहता है या किसी तीर्थ में वास करता है। शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ सेवन, जप, अस्पृश्य वस्तु का स्पर्श न करना, अभक्ष्य पदार्थ को भक्षण न करना, अवाच्य वाणी को मुख से न निकालना, समस्त प्राणियों मे भगवत् बुद्धि रखना, सदा मन, वाणी और शरीर का सयम रखना ये उसके मुख्य धर्म हो जाते हैं। सामान्यतया ये धर्म तो सभी आश्रमों के हैं।

ब्रह्मचर्य मे बडी भारी शक्ति है। ससार मे बहुत से त्याग है। किन्तु कामवासना को छोडने के समान कोई भी त्याग नहीं है। नैष्ठिक ब्रम्हचर्य का पालन करने वाला प्रायः ब्राह्मण ही होता है। किसी कारणविशेष से भीष्म आदि एक आध क्षत्रिय भी नैष्ठिक ब्रम्हचर्य का पालन करते देखे गये हैं, किन्तु यह उनका धर्म नहीं है। क्षत्रिय के लिये नैष्ठिक ब्रम्हचर्य का विधान नहीं है। इस असिधारा व्रत का पालन महान् त्यागी, परम सयमी कोई ब्राह्मण ही कर सकता है। वह अपने ब्रम्हचर्य के तेज से अग्नि के समान तेजस्वी प्रतीत होता है। निरन्तर तीव्र तप करते रहने के कारण उसकी कर्मवासना दग्ध हो जाती है। उसका चित्त निर्मल हो जाता

है और वह मत्परायण बन जाता है। अन्त में उसे उन लोकों की प्राप्ति होती है, जिन्हें पुनवान् कभी प्राप्तकर ही नहीं सकते। वह मेरे जन होने से जन लोक को प्राप्त होता है, फिर अन्त में मुझे प्राप्त हो जाता है।

कलियुग में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन होना अत्यंत कठिन ही नहीं असंभव है। अतः ऋषियों ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास तीनों का ही कलियुग में निषेध किया है। कलियुग के पाँच सहस्र वर्ष धर्मराज ने माँग लिये थे। अतः इन पाँच सहस्र वर्षों में तो सन्यास आदि देखने में आता था। तब तक जैसे तैसे वर्णाश्रम धर्म चलता था। पाँच सहस्र वर्ष के पश्चात् तो वर्णाश्रम धर्म सामाजिक न रहकर वैयक्तिक हो जायगा। इसलिये उसमें जितना निभ सके, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करके गृहस्थाश्रम को स्वीकार कर ले। उसमें यथाशक्ति आश्रम धर्म का पालन करता हुआ मेरी आराधना करे। या तो गृहस्थी हो जाय अन्यथा बिना कुछ वेप बनाये मत्परायण होकर विचरण करे। गृहस्थ में प्रवेश करने की इच्छा न हो तो संन्यासी यति वानप्रस्थ किसी का वेप न बनावे। मेरी सेवा पूजा को स्वीकार करके रात्रि दिन उसी में लगा रहे। जिस किसी भी स्थिति में रहे, विशुद्ध धर्म का आचरण करता रहे। सब भूतों में समदृष्टि रखकर सब में मेरी ही भावना करे। लिङ्ग धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है। विहित अनुष्ठान ही धर्म में मुख्य कारण है। बृहत् व्रत वाले ब्रह्मचारी का बड़ा भारी दायित्व है। वह शिखा सूत्र का परित्याग भी नहीं करता और पूर्ण यतिधर्म का पालन भी करता है।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार ब्रह्मचर्य के चार भेद हैं। ब्रह्मचर्यव्रत एकतो व्रत के लिये किया जाता है दूसरे अध्ययन के लिये बहुत से अध्ययन भी करते हैं, ब्रम्हचर्य व्रत का पालन भी करते हैं। बहुत से अध्ययन को समाप्त करने पर

भी ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करते रहते हैं। बहुत से समावर्तन कराकर विवाह कर लेने पर भी पढ़ते रहते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जिसका उपनयन संस्कार होकर समावर्तन हो गया है, विवाह भी हो गया है। फिर भी वह अध्ययन के लिये गुरु के समीप जाता है। उसे विद्यार्थी ही कहेंगे, ऐसे विद्यार्थी ब्रह्मचारी का क्या नियम हो। अथवा जिसने उपनयन कराकर समावर्तन करा लिया है और गृहस्थी नहीं हुआ है यति धर्म का पालन करता है, किन्तु साथ ही पढ़ना भी चाहता है ऐसे यति विद्यार्थी ब्रह्मचारी का क्या नियम हो।"

भगवान् ने कहा—"इन दोनो विद्यार्थियों की भी ब्रह्मचारी ही संज्ञा है। यद्यपि इन्होने मेखला, दण्ड, मृगचर्म आदि ब्रह्मचारियों के चिन्ह छोड़ दिये हैं फिर भी इन्हें ब्रह्मचारियों के समस्त नियमों का बड़ी तत्परता से पालन करना चाहिये। किन्तु गृहस्थी ब्रह्मचारी के लिये गुरुकुल में रहना ही चाहिये ऐसा आग्रह नहीं। वह चाहे तो गुरुकुल में रहे और चाहे अपने घर में ही रहकर अध्ययन करे। उसके लिये ऋतु काल मे भार्यागमन भी विहित है, इससे उसका ब्रह्मचर्य व्रत खंडित नहीं माना जाता। उसके लिये समय पर तम्बूल आदि भक्षण करना भी उतना दोष नहीं है। सुशील अल्पाहारी आदि गुणों को उसे धारण करना चाहिये।"

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धव से कह रहे हैं—"उद्धव! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में ब्रह्मचारियों के चिन्ह, उनके नियम तथा भेदों का तुमसे वर्णन किया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! ब्रम्हचर्य व्रत समाप्त करके द्विजाति बालक किस प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करे। गृहस्थियों के क्या धर्म हैं। कृपा करके आप मुझे गृहस्थ धर्म का उपदेश दें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव ! अब मैं तुम्हें गृहस्थाश्रम के ही सम्बन्ध में बताऊँगा। गृहस्थाश्रम के ऊपर बड़ा उत्तरदायित्व रहता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन तीनों आश्रम के लोग तो असंग्रही तथा भिक्षा जीवी होते हैं। गृहस्थ के ही ऊपर इन तीनों का भार ताहो है। इसीलिये समस्त आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सवश्रेष्ठ बताया है। अब मैं तुम्हें उसी के सम्बन्ध में सुनाऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् ने जैसे गृहस्थियों के धर्म बताये उन्हें मैं आपको सुनाऊँगा। आप लोग गृहस्थी तो हैं नहीं फिर भी सुन लीजिये। सुनना अच्छा ही होगा।"

छप्पय

पंच केश कूँ रखै शिखा ही अथवा धारै।
जग-विषयनितैं विरत रहै नित मनकूँ मारै॥
गो, गुरु, द्विज, रवि, अग्नि अतिथिकूँ पूजै नित प्रति।
समुझै गुरु मम रूप करै सेवा निश्चल मति॥
तजै अष्ट मैथुन सदा, भिक्षापै निर्वाह करि।
पढ़ि गुरुकूँ दै दक्षिणा बनै गृहस्थी ब्याह करि॥

गृहस्थाश्रम धर्म

(१२८१)

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।
यवीयसीं तु वयसा यां सवर्णामनुक्रमात् ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

कन्या सुघर सवर्ण सुशीला सद्गुनवारी ।
ताके सँग करि व्याह वृत्ति धारै हितकारी ॥
घरमहँ अतिथि समान बसै रागादिक त्यागै ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, तृष्णा तैं भागै ॥
सबकूँ स्वप्न समान लखि, सुत, दारा, धन, बन्धु, जन ।
ऊपर तैं कारज करै, राखै मोमें सदा मन ॥

गृहस्थ धर्म भोग के लिये नहीं है, साधना के लिये है। कोई फोड़ा हो रहा हो और उसे कोई किसी औषधि आदि से दबा दे, तो जो पदार्थ विकृत हो गया है, कहीं न कहीं से तो निकलेगा ही।

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अध्ययन समाप्त करके जिसकी इच्छा गृहस्थी बनने की हो, उसे चाहिये कि वह अपने अनुरूप अनिन्दित कुलकी तथा अवस्था में अपने से छोटी क्रमशः अपने वर्ण की कन्या से विवाह करे।'

ऐसा न हो कि पैर के फोड़े को दवा दिया जाय और वह पीठ में या कण्ठ में उत्पन्न होकर महान् कष्ट देने वाला हो। जो विकार निकल रहा हो, उसे युक्ति से निकाल दे। उससे शरीर निर्मल हो जाता है, घाव भी नहीं होता। चिन्ह भी नहीं शेष रहता, चीड़ने फाड़ने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार कर्म वासनायें अनादि हैं। मिथुन सुख के अनुभव करने की प्राणिमात्र की इच्छा होती है। पुरुषों में कुछ अपवाद भी होते हैं, किन्तु अपवादों की नियमों में तो गणना होती नहीं। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति का गृहस्थी वनाना परम धर्म है। जिसका विवाह नहीं हुआ, जिसने पुत्रका मुख नहीं देखा; उसके पितरगण पानी के बिना छटपटाते रहते हैं, उसे अवश्य ही नरकों में जाना पड़ता है। जो पुत्रवान् नहीं है उसकी सुगति होती ही नहीं। उसे स्वर्ग तथा पुत्रवानों को प्राप्त होने वाले लोक प्राप्त होते ही नहीं। महाभारत में इस विषय का एक बड़ा ही शिक्षाप्रद इतिहास है।

एक जरत्कारु नामक ऋषि थे। ब्रम्हचर्य व्रत समाप्त करके भी उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे सदा निराहार रहकर तपस्या में तत्पर रहते थे। निद्रा को भी उन्होंने जीत लिया था। तपस्वियों का सा उनका अत्यंत कृश शरीर था। वे तीर्थयात्रा के निमित्त पृथिवी पर विचरण करते रहते थे। एक गाँव में एक दिन ही रहते थे। विना माँगे जो भी कुछ मिल जाता उसी पर निर्वाह करते। एक दिन घूमते फिरते उन्होंने एक अंधे कूएँ को देखा। उसमें लम्बी-लम्बी घास थी। उस घास को पकड़े कुछ दुर्बल मनुष्य उलटे लटक रहे थे। चूहे उस घास की जड़ों को खोद रहे थे।

महामुनि जरत्कारु को उन पर बड़ी दया आई और उन्होंने पूछा—"आप लोग कौन हैं और यहाँ ऐसे उलटे क्यों लटक रहे हैं?"

उन्होंने कहा—"हम मायावर नाम के तपस्वी हैं, हमारा अब वंश लुप्त ही होना चाहता है, जिस दिन हमारा वंश लुप्त हो जायगा, उसी दिन हम धड़ाम से नीचे गिर पड़ेंगे।"

महामुनि जरत्कारु ने पूछा—आपके वंश मे कोई है क्या ? निराशा के स्वर में वे पितरगण बोले—"अजी, नहीं होने के ही बराबर है। एक महामूर्ख जरत्कारु नाम का हमारे वंश मे व्यक्ति है, वह सदा तपस्या मे ही लगा रहता है, आगे वंश चलाने का वह प्रयत्न ही नहीं करता। जहाँ वह मरा कि हमारा वंश नष्ट हुआ, फिर हम बिना पिंडजल के नीचे गिर जायँगे। वह भी नरक मे जायगा।" हाथ जोड़कर जरत्कारु मुनि ने कहा—"पितरो ! मेरा ही नाम जरत्कारु है, आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं ?"

पितरों ने कहा—"बेटा ! तुम हमारा उद्धार करना चाहते हो तो अपना विवाह करके वंश चलाने का प्रयत्न करो। भैया, जो गति पुत्रवालो को प्राप्त होती है वह गति धर्म कर्मों के फल से, तपस्या से किसी से भी नहीं मिलती।"

जरत्कारु मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जब आप लोगों की ऐसी आज्ञा है तो मैं विवाह कर लूँगा। किन्तु यदि दो बातें हुई तब तो मैं विवाह करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा।"

पितरों ने कहा—"कौन सी दो बातें ?"

मुनि ने कहा—"एक तो जो लड़की हो वह मेरे ही नाम की हो और वह लड़की भिक्षारूप मे मुझे मिल जाय, तो मैं उसके साथ विवाह करके संतान उत्पन्न करूगा।"

कथा बहुत बड़ी है, हमारा प्रयोजन इतना ही है कि पूर्व काल में गृहस्थ पालन करना परम धर्म माना जाता था। लोग धर्म पूर्वक विवाह करके संतान उत्पन्न करते थे। जरत्कारु मुनि को वासुकी नाग की बहिन मिल गयी, उसका भी नाम जरत्कारु था। वासुकी ने मुनि को भिक्षा मे उसे दे दिया। उसी से मुनि ने

आस्तीक नामक पुत्र उत्पन्न किया, जिन्होंने जनमेजय के सर्पयज्ञ में सर्पों की रक्षा की थी। जरत्कारु मुनि ने विवाह बहुत टालना चाहा। वासुकी से ठहराव करा लिया कि एक तो मैं इसका भरण-पोषण न करूँगा, दूसरे जहाँ इसने मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य किया वहीं इसे त्याग दूँगा। वासुकी को तो अपना प्रयोजन सिद्ध करना था। उसने सब स्वीकार किया। आस्तीक जब गर्भ में ही थे तभी मुनि एक छोटी सी बात पर कुपित होकर सदा के लिये वन चले गये। सारांश यह है कि जिसे स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा हो उसे विवाह अवश्य करना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् उद्धवजी को गृहस्थियों के धर्म बताते हुए कह रहे हैं—उद्धव ! गृहस्थ धर्म भोगने के लियेनहीं है, त्याग की शिक्षा लेने के लिये है। ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके द्विजाति बालक गुरु को दक्षिणा दे, तब ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति का स्नान करे। उस स्नान के करते ही वह स्नातक हो जाता है। स्नातक होकर वह अपने घर आवे और फिर अपने सदृश लड़की की खोज करावे। उसी कुल की लडकी के साथ विवाह करना चाहिये, जो अपने वर्ण की हो। जिस कुल के लोगों के आचार विचार शुद्ध न हों, जो सर्वभक्षी हों, जिनके यहाँ वैदिक मर्यादा न मानी जाती हो, जिस कुल के लोगों में वंश परम्परागत अर्श (बवासीर) का रोग हो, जिस कुल के लोगों की मृत्यु राजयक्ष्मा रोग से हुई हो, जिस कुल के पूर्व पुरुषों में मंदाग्नि, अपस्मार (मृगी) सफेद कोढ़ या गलित कुष्ठ हो उस कुल की कन्या के साथ यथाशक्ति विवाह न करे। क्योंकि ये रोग प्रायः पैतृक होते हैं। माता पिता को अर्श है, तो वह पुत्रों को भी हो जायगी, फिर वह रोग पूरे परिवार में घर कर लेगा। जिसके पिता पितामह राजयक्ष्मा से मरे हैं उनके लड़कियों में भी उनका कुछ प्रभाव रहेगा। विवाह करते हैं सुख के लिये, धर्म पालन के लिये, यदि घर में बहू रोगिणी आ

गयी तो फिर क्या धर्म कर्म बनेगा। दिनभर उसी की सेवा सुश्रूषा मे लग जायगा। इसलिये जहाँ तक हो वंश परम्परागत आने वाले रोगो से कन्या को बचावे। जिसके पीले-पीले बुरे वाल हों, जो जन्म की रोगिणी हो, जिसके अधिक अंग हो, जिसके शरीर पर बहुत लोम हो, या जिसका शरीर लोमो से सर्वथा शून्य हो, जो बहुत ही कटु बोलने वाली हो, जिसके बिल्ली के जैसे नेत्र हों ये सब अशुभ लक्षण की कन्याये मानी जाती हैं, इनके साथ भी यथासाध्य विवाह न करे। जिसका नाम सुनने में अप्रिय कठोर और भीषण हो उस लडकी को भी शास्त्रकारों ने अशुभ लक्षण बताया है।

कन्या अच्छे सदाचारी कुलकी हो, देखने मे सुन्दरी, सुशीला, मधुर भाषिणी, सुन्दर नाम वाली तथा गुणवती हो उसके साथ विवाह करे। जहाँ तक हो ऐसी कन्या के साथ विवाह करे जिसके भाई भी हो, क्योंकि ससार में साले का सम्बन्ध बडा मधुर है। यदि साला, साली, सरहज न हों तो ससुराल जानें मे सरसता नहीं आती।

विवाह के समय अग्न्याधान होता है। उस अग्नि को साथ लावे। उसमें नित्य अग्निहोत्र करे। अग्निहोत्र न हो सके तो मेरी पूजा ही रखे। मेरी नित्य पूजा महायज्ञ है।

सभी गृहस्थियो को जो आचार विचार से रहते हैं, अपने घर मे भोजन बनाते हैं, उनको नित्य पाँच प्रकार के पाप स्वाभाविक लगते हैं। चूल्हे मे, झाड़ू मे, चक्की में, ओखली मूसल मलने में, पानी के रखने के स्थान में, कितना भी बचाओ हिंसा हो ही जाती है। रोटी बना रहे हैं लकडी में ही कोई जीव जन्तु चला गया, कंडे में ही चला गया। कहाँ तक देखा जा सकता है, भोजन के समय कोई जीव जन्तु मर गया। झाड़ू दे रहे हैं उसी में बहुत से जीव मर गये। अन्न पीस रहे हैं उसमें ही बहुत से

घुन आदि जीव पिस गये। बर्तन मल रहे हैं, धान कूट रहे हैं, कोई छिपा हुआ जीव रह गया, रंगड़ लगने से मर गया। बर्तन रखने के स्थान पर जीव आ जाते हैं, पानी लेते समय, निकालते समय या पानी में ही जीवों की हिंसा हो जाती हैं, इन हिंसाओं से कोई कितना भी बचना चाहे बच नहीं सकता।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्वयं इन कामों को न करे। रोटी कहीं से बनवा लावे, आटा पिसा लावे, झाड़ू को, बर्तन मलने को, धान कूटने को नौकर रखले तब तो ये दोष नहीं लगेंगे ?"

सूतजी ने कहा—"लगेंगे क्यों नहीं महाराज! चाहें जिससे कराओ दोष तो कराने वाले को लगेगा, क्योंकि उसका फल तो वही ग्रहण करता है ?"

शौनकजी ने पूछा—"तब, फिर इन पापों से छूटने का क्या उपाय है ?"

सूतजी ने कहा—"वही तो महाराज! मैं भगवान् के शब्दों में बताता हूँ। इन पाँच दोषों की निवृत्ति के लिये पाँच महायज्ञ-नित्य करने चाहिये। वे ये पाँच यज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ। इन पाँचों यज्ञों के करने से ये पाँच दोष निवृत्त हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! इन पाँचों यज्ञों की व्याख्या करें।"

भगवान् ने कहा—"किसी को पढ़ा देना यही ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण श्राद्ध यही पितृयज्ञ है, नित्य अग्निहोत्र करना यही देवयज्ञ है, गोग्रास, कुत्ता आदि भूतों के लिये निकाल देना यही भूतयज्ञ है और घर में जो भी अतिथि आ जाय उसे सत्कार पूर्वक भोजन करा देना यही अतिथि यज्ञ है। इन कार्यों को यथाशक्ति नित्य करना चाहिये। मेरी पूजा करने वाले के ये पाँचों यज्ञ

स्वतः हो जाते हैं। जिसके यहाँ मेरी अर्चा पूजा रहती है वह जो भी करता है मेरी पूजा के ही निमित्त करता है। उसकी पूजा को देखकर लोगों की मेरे चरित्रों में रुचि होती है यही उसका ब्रह्मयज्ञ है। वह मेरे प्रसाद अन्न को अपने पितरों के निमित्त देता है वही पितृयज्ञ है, मेरी पूजा में वह कलश, शंख दीपक तथा मेरी साङ्गोपाङ्ग पूजा करता है यही उसका दैवयज्ञ है। गो ग्रास आदि निकालता है यही भूतयज्ञ है और सबको प्रसाद बाँट कर तब बचे प्रसाद को पाता है यही उसका मनुष्य यज्ञ है। इस प्रकार मेरी पूजा करने वाले गृहस्थ को मेरी पूजा के प्रभाव से कोई दोष नहीं लगता।

जो गृहस्थ अपने ही लिये भोजन बनाकर बिना मुझे निवेदित किये खा लेता है, वह मानों पाप को ही खाता है। अन्न नहीं खाता, कीड़ों का भक्षण करता है। इसलिये गृहस्थ को अपने ही निमित्त कभी भोजन न बनाना चाहिये।

जहाँ तक हो हिंसा से सदा बचते रहना चाहिये। बिना प्रयोजन के वृक्षों की डाली को भी न काटना चाहिये।

गृहस्थ को ऋतुकाल के अतिरिक्त कभी भार्यागमन न करना चाहिये। ऋतुकाल में भी धर्म भावना से गमन करे। अपनी ही पत्नी में सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये। जो दूसरों की पत्नी हों उन्हें माता के समान, जो बच्ची हों उन्हें अपनी पुत्री के समान और जो बड़ी हों उन्हें बहिन के समान मानना चाहिये।

जो अपने घर में अतिथि आ जाय उसकी यथाशक्ति पूजा करे। अतिथि की कोई जाति नहीं, ब्राह्मण हो चाण्डाल हो, जो भी अपने घर अन्न की इच्छा से आया हो उसे अन्न अवश्य देना चाहिये। ब्रह्मचारी और सन्यासी जो भोजन नहीं बनाते, जो गृहस्थों के ही ऊपर निर्भर रहते हैं उन्हें तो सबसे पहिले भोजन देना चाहिये। यज्ञ शेष तथा अपने पोष्यवर्ग के भोजन कराने पर जो बचे उसी

को सद्गृहस्थ को रखना चाहिये। गृहस्थ का सबके प्रति कर्तव्य है।

(१) माता पिता के प्रति—माता पिता जिन्होंने हमारे शरीर को उत्पन्न किया है, वे हमारे जनक हैं, प्रत्यक्ष देवता हैं, जंगमतीर्थ हैं, उनकी प्राणपण से सेवा करे। उनकी सब आज्ञाओं का पालन करे। उन्हें भोजन कराके तब भोजन करे। उनसे सदा मधुर भाषण करे। अपनी स्त्री से भी ऐसा ही करावे।

(२) आचार्य पुरोहितों के प्रति—ये ज्ञान दाता गुरु हैं। समय समय पर इनकी पूजा करे। इन्हें भोजन करावे। धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछे। धार्मिक कृत्यों को इनके द्वारा करावे। यथासाध्य यथासमय इन्हें दान दक्षिणा से सन्तुष्ट करे।

(३) जाति वालों के प्रति—जाति वाले अपनी जाति में किसी को बढ़ता देखते हैं तो उससे आशा लगाये रहते हैं। यथाशक्ति जाति वालों की सहायता करे, उनके हर्ष में, शोक में सम्मिलित हो। जाति में किसी के विवाह हो तो उनके यहाँ जाय। तन, से मन, से धनसे जैसे भी जितनी भी सहायता दे सके दे। उनके यहाँ कोई बीमार हो, मर गया हो तो भी सहानुभूति प्रदर्शित करने जायें।

(४) भाइयों के प्रति—जो अपने बड़े भाई हों उन्हें पिता के समान, बड़ी भाभियों को माता के समान समझे। छोटे भाइयों को पुत्र के समान, छोटी भाभियों को पुत्रवधू के समान समझे। कदाचित भाई-भाइयों में बटवारा हो तो उनसे झगड़ा न करे। यदि भाई अधिक भी ले लें तो कोई बात नहीं, हैं तो भाई ही। जहाँ तक हो भाई-भाई में कलह न होने पावे. इसे गृहस्थ सदा बचाता रहे, भाई-भाई की लड़ाई अच्छी नहीं होती।

(५) बहिनों के प्रति कर्तव्य—बहिन दया की पात्री है. सदा उसके प्रति दया के भाव रखे। उत्सव पर्वों पर सदा उसे सम्मान

के साथ बुलावे और यथाशक्ति दान मान से उनका सदा सत्कार करता रहे।

(६) पत्नि के प्रति कर्तव्य—आर्य धर्म शास्त्र मे स्त्री को अर्धाङ्गिनी बताया है। स्त्री अपनी आत्मा ही है, आधा शरीर है। पुरुष स्वयं ही स्त्री के गर्भ से पुत्र रूप मे पुनः उत्पन्न होता है, अतः उसकी जाया संज्ञा है, वह घर की स्वामिनी है। जो भी कार्य करे उसकी सम्मति से करे। धर्म के जितने भी इष्टापूर्त कर्म हैं, वे पत्नी के बिना हो ही नहीं सकते, इसीलिये उसका नाम सह धर्मिणी है। धर्म की कामना वाले सदा स्त्री का सम्मान करे। वह गृह की स्वामिनी होने से गृहिणी कहाती है। गृहिणी के बिना न तो घर है न गृहस्थ धर्म ही है, गृहस्थ धर्म की मूल पत्नी है। जो सदा दान मान सम्मान से अपनी पत्नी को प्रसन्न रखता है, उसे सभी शुभ कर्मों के फल स्वत. ही प्राप्त हो जाते हैं, देवता पितर उस पर प्रसन्न होते हैं। अतः गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य यह है कि अपनी आत्मा की भाति प्रत्येक कार्य में पत्नी का सदा ध्यान रखे।

(७) पुत्रों के प्रति कर्तव्य—आत्मा ही पुत्र बनकर उत्पन्न होता है। अत' अपने मे और पुत्रो मे कोई भेद नहीं। पिता के पश्चात् उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति के पुत्र ही अधिकारी होते हैं। अतः पुत्रो का पालन सदा कर्तव्य बुद्धि से करे। सदा यही कामना करे मेरे पुत्र ससार में सर्वश्रेष्ठ हों। मनुष्य सबसे पराजित होने मे दुखी होता है, किन्तु पुत्र से पराजित होने मे उसे परम प्रसन्नता होती है। पुत्रों मे किसी प्रकार का भेद भाव न करे। जो बुद्धिहीन हों अपग हों या अन्य प्रकार से असमर्थ हो उनकी भी रक्षा का प्रबन्ध करे। पुत्रो को सब प्रकार से योग्य बनाना पिता का कर्तव्य है।

(८) पुत्रियों के प्रति कर्तव्य—पुत्री गौ के समान पूजनीया और दया की पात्री है। पुत्री का योग्य वर को दान करना सैकड़ों यज्ञों के समान है। पुत्री के पुत्र अपने नाना के वंशजों को जलदान देते हैं। पुत्री का अधिकार जीवन भर लेने का होता है। विवाह के समय उसे भलीभाँति वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके तथा समस्त गृहस्थोपयोगी वस्तुओं को शक्ति के अनुसार देकर विदा करे। फिर पर्वों पर उसके यहाँ कुछ न कुछ सदा भेजता रहे। पर्व पर्व पर उसे भाजी भेजे। जब गर्भवती हो तब भेजे। बच्चे का जन्म सुने तब भेजे, बच्चे को लेकर आवे तब उसे यथाशक्ति दे। जब भी वह आवे तभी उसे कुछ देता रहे। लड़की जब तक जीती है, तब तक पिता के घर से पाती रहती है; यही नहीं उसके बाल बच्चे भी सदा पाते रहते हैं। पुत्री के लड़के लड़कियों का विवाह हो तो भात दे, उनके बच्चे हों तो उन्हें भी, क्यों कि सब मान्य पक्ष के हैं।

(९) सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य—सम्बन्धी दो प्रकार के होते हैं—एक तो स्वयं जिनके मान्य हैं जैसे अपने ससुराल वाले, ननसाल वाले। उनके यहाँ समय समय पर जाय। वे जो प्रेम से दें उसे सदा स्वीकार करें। दूसरे अपने मान्य होते हैं, जिनके यहाँ अपनी बूआ, बहिन, पुत्री या भतीजी आदि विवाही हों। उन मान्य सम्बन्धियों का सदा सम्मान करे, उन्हें पर्वों पर स्मरण करे और यथाशक्ति दे। सम्बन्धियों के सम्बन्धियों से भी प्रेम का सम्बन्ध रखे।

(१०) सर्व भूतों के प्रति कर्त्तव्य—चींटी से लेकर ब्रह्म पर्यन्त सभी गृहस्थी से कुछ न कुछ आशा रखते हैं। अतः यथा शक्ति सबका सम्मान करे। कोई भी घर पर भूखा आ जाय उसका अन्न से, जल से, आसन से और कुछ न हो तो मधुर वाणी से ही सत्कार करे। यह कभी न सोचे कि हमतो निर्धन हैं, हम

किसी का क्या सत्कार कर सकते हैं। बैठने को भूमि, पिलाने को पानी और हृदय को हर्षित कराने के लिये मधुर वाणी ससार में किसके पास नहीं है। अतिथि इन्हीं से परम सन्तुष्ट होता

है। ब्रह्मचारी सन्यासी, भिखारी, गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, पशु पक्षी, जीव जन्तु, देवता, पितर सभी का यथाशक्ति यथासामर्थ्य सदा सत्कार करे। अपने द्वार से कोई अपूजित निराश होकर न लौटने पावे। चीटियों को भी कुछ अन्न देवे। कुत्तों को भी डाल दें। जो खायँ उसी में से गोग्रास निकाल दे। साराश यह कि सदा देने की—दूसरों की सेवा करने की—चेष्टा करता रहे।

अन्य नियम—१—गृहस्थी जो भी कर्म करे, भगवान् की सेवा समझकर ही करे। मन में यही सोचले—मेरे इस कार्य से सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न हों।

२—भागवती कथाओं को सदा महापुरुषों के मुखों से नियमपूर्वक सुना करे। यदि कोई सुनाने वाला न हो तो स्वयं ही पढ़े। वह दिन व्यर्थ समझे जिस दिन भगवान् की और भक्तों की कथायें सुनने को न मिलें।

३—इस बात को सदा विचारता रहे कि ये स्त्री, पुत्र, घर, परिवार मेरे नहीं हैं। भगवान् ने मुझे निमित्त बना दिया है। यही सोच कर उन में अधिक आसक्ति न रखे। केवल प्रयोजन भर को उनसे सम्बन्ध रखे। भीतर से विरक्त बना रहे।

४—जो भी धन यज्ञ कराने से, पढ़ाने से, कर से, खेती से, व्यापार से, परिश्रम से या किसी भी कार्य से आवे उसे सब दान पुण्य में और गृहस्थी के काम में ही लगा दें। जितना पेट में चला जाय उतना तो अपना है। और सब तो जिस निमित्त आता है चला जाता है, उस धन में अधिक ममता न करे।

(५) स्त्री मे अत्यंत आसक्त न हो। स्त्रियों में अत्यंत आसक्ति होने से कामवासना बढ़ती है। संसार में कामवासना की अभिवृद्धि से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं। कामी जो चाहे सो पाप कर सकता है। इसलिये कामवासना से स्त्री के अंगों का चिन्तन न करके एकान्त में सदा परमात्मा की महिमा का चिन्तन करते रहना चाहिये।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! यह तो मैंने अत्यंत संक्षेप में गृहस्थी के कर्तव्यों को बताया, अब तुम गृहस्थी के वृत्ति को श्रवण करो। गृहस्थों को निर्वाह किस वृत्ति से कैसे करना चाहिये।

गृहस्थियों की वृत्ति छै प्रकार बताई है—ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्यानृत और श्ववृत्ति। अब इन की व्याख्या सुनिये।

(१) ऋत—ऋत कहते हैं अत्यंत पवित्र सत्य को। किसान धान काट कर ले जाता है। बनिया अन्न बेचकर दुकान बंद कर देता है। अब खेत मे अथवा दुकान के आगे जो दाने बिखरे रह जाते हैं, उन्हीं को पक्षियों की भाँति बीनकर उसी से निर्वाह करना यह ऋत वृत्ति कही जाती है। इसमे अपने को किसी के अधीन नहीं करना पडता। जैसे पक्षी चुगा बीनकर रहते हैं वैसे ही विशुद्ध वृत्ति वाला विरक्त ब्राह्मण सब संग्रहो से दूर रहकर इस वृत्ति से निर्वाह करे। जिस दिन कुछ मिल जाय उस दिन खाले, जिस दिन कुछ न मिले सन्तोष करले।

(२) अमृत—दूसरी वृत्ति है अमृत। किसी से भी माँगने नहीं जाते। प्रारब्ध के सहारे चुप चाप बैठे हैं। भाग्यवश बिना माँगे कुछ मिल जाय तो उससे निर्वाह कर लिया, न मिला तो हरीच्छा। इस प्रकार बिना माँगे, बिना दीन बने, भगवद् इच्छा से जो भी मिल जाय उसी से काम चलाने का नाम अमृत वृत्ति है। इस वृत्ति को भी ब्राह्मण ही धारण कर सकता है।

(३) मृत—तीसरी वृत्ति है मृत। मृत वृत्ति वह कहलाती है, जिसमे नित्य दूसरों से याचना करनी पडती है। याचना कैसे भी की जाय—या तो पात्र लेकर घर-घर चुकटी माँगी जाय, या दान माँगा जाय अथवा किसी निमित्त से याचना की जाय। ब्रह्मचारी तथा सन्यासियों का तो भिक्षा पर निर्वाह करना धर्म ही है। केवल पेट भरने को अधिकारानुसार माँग लेना कोई दोष नहीं। इसीलिये भिक्षान्न को अमृतान्न कहा और भिक्षा की गणना परिग्रह मे भी नहीं है। किन्तु माँग कर अपनी वृत्ति चलाना यह अत्यंत निन्दित है। याचक जब धनिकों की देहली के भीतर हीन बनकर याचना करने जायगा, तो उसका दशम द्वार बन्द हो जायगा। उसमे दैवी सम्पति के गुण आ नहीं सकते। इसीलिये नित्ययाञ्चा अत्यंत निन्दित वृत्ति है। दान लेने की ऋषियों ने

प्रशंसा नहीं की। जहाँ तक हो दान परिग्रह से बचता रहे। जब किसी प्रकार निर्वाह न हो तब दान परिग्रह याचना करके काम चलावे।

(४) प्रमृत—चौथी वृत्ति है प्रमृत—खेतीबारी करना। यह वृत्ति वैश्यों की है। आपत्ति काल में क्षत्रिय और ब्राह्मण भी इस वृत्ति से जीविका चला सकता है।

(५) सत्यानृत—पाँचवी वृत्ति है सत्यानृत अर्थात् जिसमें सत्य असत्य दोनों ही मिलेजुले हैं, जैसे व्यापार। वैश्य इसी वृत्ति से काम चलावे। आपत्ति काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्र भी व्यापार कर सकते हैं।

(६) श्ववृत्ति—श्ववृत्ति उसे कहते हैं, जहाँ भी टुकड़ा मिलने की आशा हुई उसी के पैरों में पड़कर अपना पेट दिखाकर उसकी सेवा में संलग्न रहना, उसकी दासता करते रहना। दासता करके उसकी हाँ में हाँ मिलाकर नीच से नीच सेवा करके इस पापी पेट कोपालना। जहाँ तक हो धर्म में आस्था रखने वाले द्विजातियों को इस वृत्ति को कभी न स्वीकार करना चाहिये। वैसे प्राणी मात्र की सेवा करना तो परम धर्म ही है। जीवों की सेवा करना मेरी ही सेवा है। किन्तु दीन होकर स्वार्थ भावना से आजीविका के लिये अपने आपको बेच देना यह उत्तम नहीं। शूद्रों के लिये यह वृत्ति विहित है। वे सेवा करके आजीविका भी चलावें तो उन्हें बड़ा पुण्य होता है और वे स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।

गृहस्थ के लिये संग्रह करना परमावश्यक है, किन्तु ब्राह्मण गृहस्थी होने पर भी संग्रह की ओर ध्यान न दे। अधिक से अधिक गृहस्थ ब्राह्मण तीन वर्ष के निर्वाह योग्य धन संग्रह कर सकता है। इससे अधिक जो करता है वह पाप करता है। ब्राह्मण की चार वृत्तियाँ बताई हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! चार कौन-कौन सी वृत्तियाँ बतायी हैं?"

भगवान् बोले—प्रथम कुसूल धान्य वृत्ति, दूसरी कुम्भधान्य वृत्ति, तीसरी अश्वस्तन धान्य वृत्ति और चौथी कपोत वृत्ति। अब इन की व्याख्या सुनिये।

(१) कुसूल धान्य वृत्ति—अर्थात् तीन वर्ष के लिये धान्य संग्रह करके घर मे रख लेना। ऐसे गृहस्थ ब्राह्मण को भगवत् भजन, अध्ययन, अध्यापन, दान देना इन कर्मों के अतिरिक्त भोजन की चिंता अर्थात् निमंत्रण भी खाना चाहिये। दान लेना तथा परिग्रह की भी चिन्ता रखनी चाहिये।

(२) कुम्भधान्य वृत्ति—अर्थात् एक वर्ष के लिये धान्य का संग्रह कर लेना। ऐसे गृहस्थी को निमंत्रण आदि में न जाना चाहिये। भगवान् का भजन करे, पढ़े पढ़ावे, दान और प्रतिग्रह को भी स्वीकार करना चाहिये।

(३) अश्वस्तन धान्य वृत्ति—अर्थात् केवल एक दिन का अन्न संग्रह करे। इससे जो भी अधिक आजाय, उसे तुरन्त बाँट दो। कभी दूसरे दिन के लिये संग्रह न करे। ऐसा ब्राह्मण न किसी को पढ़ावे न दान प्रतिग्रह ले। जो भी अधिक आजाय उसका दानकर दे और अपना अध्ययन करता रहे।

(४) कपोत वृत्ति—अर्थात् कबूतर की भाँति दाना बीन कर लावे। उसके लिये अध्ययन के अतिरिक्त कुछ भी कर्तव्य नहीं। अपनी विशुद्ध वृत्ति से जीवन निर्वाह करे, वेदों का अध्ययन करता रहे।

इस प्रकार इन चारों वृत्तियों में से अपनी सामर्थ्य के अनुसार किसी एक वृत्ति को धारण करके गृहस्थी ब्राह्मण निर्वाह करे। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा अन्त्यज अपनी कुल परम्परागत वृत्तियों से काम चलावे। गृहस्थ जो भी हवन यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण, बलिवैश्वदेव, अन्नदान, अतिथि पूजन आदि करे सब प्रभुप्रीत्यर्थ

ही करे। ऋषि, देवता, पितर. मनुष्य तथा चराचर समस्त जीवों में मुझे ही मानकर मेरी ही भावना से उनका आदर सत्कार करे। जो अपने आश्रित हो उनका सदा ध्यान रखे, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। जहाँ तक हो न्याय से उपार्जित धन से ही समस्त गृहस्थी के कार्य चलावे। बहुत हाय हाय न करे। जो भी प्रारब्ध वश प्राप्त हो जाय उसे प्रभु प्रसाद समझकर उसी में सन्तुष्ट हो जाय। गृहस्थाश्रम चिन्ताओं का घर होता है। इसमें नित्य नयी चिन्तायें उठती ही रहती हैं। जैसे नदी के उद्गम में से निरन्तर नया नया जल निकलता रहता है, ऐसे ही गृहस्थी में नित्य नई चिन्तायें निकलती ही रहती हैं। यह कभी न सोचे—इस चिन्ता से निवृत्त हो जायँगे, तब भजन करेंगे। चिन्तायें तो कभी समाप्त होने ही की नहीं। अतः नित्य नियम से मेरा भजन करता रहे। कुटुम्ब चाहे जितना भी बढ़ जाय, भगवद् भजन में कभी भी प्रमाद न करे। इन सबको क्षणभंगुर नाशवान् और अनित्य समझकर मुझ में ही मन लगावे। ये भाई हैं, ये पुत्र हैं, ये परिजन हैं, यह मेरी पत्नी है, यह मेरी माता है, ऐसा समझकर मोह न करे; समझले हम सब भगवान् की ओर जा रहे हैं। भवसागर को पार करते समय ये हमें साथी मिल गये हैं, एक नौका पर साथ साथ बैठ गये हैं। उस पार जाकर ये सब तितर बितर हो जायँगे। सब अपना अपना रास्ता पकड़ेंगे। न तो ये पहिले ही हमारे साथ थे, न अन्त में ही साथ जायँगे। बीच में चार दिन के लिये दर्शन मेला हो गया है। जैसे मार्ग चलते चलते प्याऊ पर पानी पीने को आदमी एकत्रित हो जाते हैं, ऐसे ही ये कुटुम्बी इकट्ठे हो गये हैं।

घर में रहे तो समझे हम धर्मशाला में ठहर गये हैं। कुटुम्बी भी आकर इसमें ठहर गये हैं। हमारा इसमें कुछ भी नहीं है। इस प्रकार निरन्तर मेरा पूजन करता हुआ गृहस्थ में रहे। यदि

घर मे स्त्री अनुकूल है, सब सेवा पूजा मे लगे हैं, अपने मनमे भी कोई मोह ममता नहीं है, तो सदा गृहस्थ मे रह कर मेरा भजन करता रहे। उसे अन्य आश्रम मे जाने की आवश्यकता नहीं। गृहस्थाश्रम के अधिकारी चारों ही वर्ण के लोग हैं। ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्त और सन्यस्त इन चारों ही आश्रमों का अधिकार है। क्षत्रिय को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ इन तीन ही आश्रमों का अधिकार है। क्षत्रियो के लिये सन्यास आश्रम का विधान नहीं। हॉ, वह अलिंग सन्यास कर सकता है, अर्थात् सन्यासी वेष न बनावे। मन से सन्यास धर्मों का पालन करे। अथवा वीर सन्यास ले सकता है, अर्थात् बिना अन्न जल ग्रहण किये उत्तर दिशा को चलता ही जाय। वहॉ तक चलता रहे जहाँ तक देह पात न हो जाय। पांडवों ने ऐसा ही वीर सन्यास लिया था। वैश्यों के लिये ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो ही आश्रम हैं। वानप्रस्थ और सन्यास वैश्य के लिये नहीं ह, वह घट छोड़कर भजन करना चाहे या तीर्थयात्रा करना चाहे तो बिना वेष बनाये साधारण रूप से करे। शूद्र के लिये एक ही गृहस्थाश्रम है। भगवान् के भजन में सभी का अधिकार है और सभी को समान फल मिलता है।

गृहस्थी ब्राह्मण चाहे तो गृहस्थ को छोड़कर स्त्री को साथ लेकर वन में जाकर वानप्रस्थ धर्मों का पालन करे। अथवा स्त्री के भरण-पोषण का भार पुत्र को सौंपकर स्त्री को घर पर ही छोड़कर सन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता है। नियम तो ऐसा ही है गृहस्थ को छोड़कर वानप्रस्थ हो, फिर सन्यासी। उत्कट वैराग्य हो तो वानप्रस्थ के बिना भी सन्यास ग्रहण कर सकता है।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! वानप्रस्थ को कैसे रहना चाहिये। वानप्रस्थियों के क्या धर्म हैं, कृपा करके मुझे बताइये।"

यह सुनकर भगवान् हॅसे और बोले—उद्धव ! वानप्रस्थियों के

धर्म अत्यन्त ही कठोर हैं, मैं तुम्हें उन्हीं को अब सुनाता हूँ।"

सूत जी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान् ने वानप्रस्थियों के धर्म सुनाये हैं, उन्हें मैं आप से कहता हूँ. आप सब समाहित चित्त से इस पुण्य प्रकरण को श्रवण करें।"

छप्पय

देव पितर अरु अतिथि करै सेवा प्रानिनिकी।
देवै सबको भाग जीविका जैसी जिनिकी॥
जो कछु कारज करै भाव मोई महँ राखै।
जीवनि दुख नहिं देहि अनृत बानी नहिं भाखै॥
सब भूतनि महँ मोइ लखि, निरभिमान घरमहँ बसै।
घर त्यागै अथवा चतुर, वानप्रस्थ बनि तनु कसै॥

—:o:—

वान प्रस्थाश्रम धर्म

(१२८२)

वन विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीय भागमायुषः ।।*

(श्रीभा० ११ स्क० १८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

कन्द मूल फल खाइ मूँछ, नख, जटा बढावै।
वन महँ जो मिलि जाइ ताहि तैं काम चलावै ।।
पञ्च अग्नि तप करै कुटी महँ सोवै नाहीं।
सिर पै वर्षा सहै, शरदमहँ जलके माहीं ।।
करै अग्नि सेवा सतत, स्वय दास बनिकें रहै।
वर्षा, गरमी ठंढकूँ, यथाशक्ति नित नित सहै ।।

गृहस्थी मे कैसे भी रहा जाय तो भी वहा सुख पूर्वक जीवन बीतता है। बना बनाया समय पर भोजन मिल जाता है। भोजन मे भी षडरस रहते हैं। कभी खीर है कभी पूडी है, कभी मोहन

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! वानप्रस्थ श्राश्रम जाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी को या तो पुत्रों के समीप छोड़ जाय या उसे साथ लेकर शान्ति के साथ आयु का तीसरा भाग वन में ही व्यतीत करे।

भोग है कभी मीठा भात, समोसे, दालमोंट, दहीबड़े, कभी सेव, मठरी, पपड़ी मोहनथार और न जाने क्या-क्या मिल जाता है। स्त्रियोंकी इच्छा रहती है भोजन सुन्दर से सुन्दर स्वादिष्ट से स्वादिष्ट बने। उनसे बहुत कहो साधारण बने तो भी वे चार वस्तुएँ बना ही देंगी। पहिननेको भी ऋतुके अनुसार कपड़े बन जाते हैं। काम करनेको सेवक सेविकायें रहती हैं। थक जाने पर पत्नी पुत्र सेवक आदि शरीर दवा देते हैं। समय पर भोजन मिलता है, धूप वर्षा तथा ठंडके बचावके सब उपाय होते हैं। कैसा भी दरिद्री गृहस्थी क्यों न हो वह भी अपने घरका शासक है, राजा है। वह भी कुछ लोगों पर अपना प्रभुत्व रखता है। प्रभुत्व में एक अभिमानजन्य सुख होता है। इन्द्रियों की तृप्ति होती है। जीवन में अस्वाभाविकता आजाती है। अस्वाभाविक जीवन मे मरनेवाले की सुगति नहीं होती। क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ तो विषयोंकी आदी होगयी हैं। मरते समय वे ही विषय याद आवेंगे, अतः फिर इन्हीं विषयोंका कीड़ा होना होगा। अत॰ किसी प्रकार जीवन स्वाभाविक हो। उसके लिये वाह्य उपकरणों की आवश्यकता ही न हो, तब तो सबसे ही उत्तम है। जैसे जंगली पशुपक्षी या वृक्ष अपना स्वाभाविक जीवन विताते हैं ऐसा तपमय जिसका जीवन हो जाता है वह तप लोकोंको प्राप्त होता है। जैसी स्थिति यहाँ होगी वैसी ही परलोक में प्राप्त होगी अतः गृहस्थके पश्चात् तप करने वनमें चले जाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब गृहस्थी में रहते-रहते बहुत दिन हो जायँ, तो फिर विवेकी पुरुपको घरकी ममता छोड़ देनी चाहिये। पूर्ण आयु सौ वर्ष की मानी जाय, तो पचास वर्षके पश्चात् वन में जानेकी तैयारियाँ करे। जो अधिक वृद्धावस्था तक घरमे या राजनीति में फँसा रहता है, वह अपने परमार्थको बिगाड़ता है। समाज कोई एक व्यक्ति थोड़े ही है। सब व्यष्टियोंका

मिलकर समष्टि समाज बनता है। इसलिये कोई यह चाहे कि मैं ही सबका उद्धार करने वाला हूँ। मेरे बिना घर का या समाजका काम चल हो नहीं सकता तो यह उसका मिथ्याभिमान है। जिनसे अपने पद का या घरका मोह थोडा नहीं जाता, वे भाँति भाँतिकी उलटी सीधी बातें बनाते हैं। उनसे कोई कहे कि अब तो आपकी अवस्था भजन करनेकी है। आप अब इन सब झंझटोंको छोडकर भगवत् चिन्तन कीजिये।" तब वे अनेक युक्तियोंको देते हुए कहने लगते हैं—"क्या करें जी, इच्छा तो हमारी भी बडी होती है, किन्तु अभी गृहस्थी कच्ची है। मेरे बिना काम चल नहीं सकता। यद्यपि देखने मे लडका १५, २० वर्ष का हो गया है, किन्तु है अभी सर्वथा बालक ही। उसके ३, ४ छोटे-छोटे भाई हैं, २. ३ बहिनें हैं। इन छोटे-छोटे बच्चो का निर्वाह कैसे होगा ? फिर अभी तो मेरे माता पिता भी जीवित हैं। इनकी अत्यन्त वृद्धावस्था है, इन्हे छोडकर जाने से पाप लगेगा। घर का सब ठाठ ही बिगड जायगा। दूसरे लोग धन पर, भूमि पर अधिकार कर लेंगे। बच्चे मारे मारे इधर से उधर घूमेंगे। अभी मैं कैसे घर छोड सकता हूँ, कुछ दिन पश्चात् पुत्र समर्थ हो जायगा तब देखा जायगा।"

कुछ दिन में पुत्र भी पढ लिखकर कार्य योग्य बन गया, उसका विवाह भी हो गया, बच्चा भी हो गया। फिर किसी ने कहा—"अब तो आप को घर छोड देना चाहिये।" तब वह कहता है, कैसे छोडे महाराज ! अभी तो बहुत काम है। यह लेना है, वह देना है। मेरे बिना जिन पर ऋण है वे न देंगे। फिर घर छोडने से ही क्या होता है। 'मनचंगा। तो कठौती मे गंगा।" वन में भी किसी से माँगना ही होगा, यहाँ बिना माँगे रोटी मिल जाती है। वहाँ भी तो आश्रय ढूँढना होगा। यहाँ बना बनाया आश्रय है। प्रधान तो भजन है। वह वन में भी हो सकता है, घर मे भी हो सकता है। हमारा तो ऐसा विचार है—घरमे अधिक होता है।"

ऐसी बातें वह घर मे आसक्ति होने के कारण दूसरो को भुलाने के लिये कह देता है। वास्तव में उसकी बुद्धि गृहासक्ति के कारण विक्षिप्त बन जाती है। वह मन्दमति विषयों का कीडा होने से सदा संसारी विषयों से अतृप्त बना रहता है। उन विषय भोगों को स्वेच्छा से त्यागने की उसकी इच्छा होती ही नहीं। उसके भीतर ही भीतर यह भय बैठा रहता है। घर से निकल कर जाऊँगा, तो ऐसी आज्ञाकारिणी सेवा परायणा पत्नी कहाँ मिलेगी। नित्य नया भोजन कहाँ मिलेगा। वन के कडवे कसैले फलो से पेट कैसे भरेगा। तपस्या मय जीवन बिताना बडा कष्टप्रद है।" इन्हीं विचारों से वह गृहान्धा कूप से निकलने की इच्छा नहीं करता और अन्त मे उसी घर मे खटिया पर रोगी होकर मर जाता है और मर कर उसकी दुर्गति होती है। घोर अन्धतम लोकों मे वह जाता है।

जिसे मेरी कृपा से यह संसार अनित्य जान पडे। उसकी इच्छा गृहस्थी छोडकर वानप्रस्थ व्रत धारण करने की होती है। ऐसा वानप्रस्थी बनने का इच्छुक व्यक्ति घर के सभी बन्धनों को छोडकर अपनी अग्निहोत्र की अग्नि को साथ लेकर वन की ओर चल दे। पुत्र समर्थ हों और वे अपनी माता का पालन कर सकते हों तथा उसकी भी इच्छा पुत्रों के साथ रहने की ही हो, तो पत्नी को पुत्रों को सौंपकर अकेला ही वन को जाय, यदि पत्नी का अत्यन्त आग्रह हो और वह किसी प्रकार साथ छोडने को उद्यत ही न होती हो, तो उसे भी वन में साथ ले जाय, किन्तु उससे वन मे स्त्री का सम्बन्ध न रखे। अपनी माता के सदृश उसे माने जाने। जो वन में रहकर भी स्त्री स्त्रीपने का सम्बन्ध रखता है वह आरूढ पतित कहाता है। ऐसे लोगों का तो स्पर्श करना भी पाप है।

घर को छोड़कर वन में गये, तो फिर लौटकर नहीं आना चाहिये। वन में ही रहकर आयु के शेष भाग को बिता देना

चाहिये। वन में रहकर वन की ही वस्तुओं से निर्वाह करे। ग्राम्य की वस्तुओं को न तो व्यवहार मे लावे, न ग्राम्य बातों को सुने ही। नगर के बने सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को भी न करे। जो वन में रह कर ग्राम्य वस्तुओं के भोगने की इच्छा करते हैं वे आश्रम के लिये कलंक हैं। वे पतित हैं। ऐसे लोगों का दर्शन करना भी पाप है।

(१) भोजन वृत्ति—वन मे रहकर वन की वस्तुओं से निर्वाह करे। वन में अपने आप उत्पन्न हुए कन्द मूल तथा फलों पर ही निर्वाह करे। जैसे ब्रह्मचारियों मे सावित्र, प्राजापत्य, ब्राह्म और बृहत् चार भेद हैं वैसे ही वानप्रस्थियों में भी चार भेद होते हैं। उनके नाम वैखानस,वालखिल्य, औदुम्बर और फेनप है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! इन चारों की मुझे व्याख्या सुनाइये।"

भगवान् बोले—"उद्धव! वानप्रस्थियों की वृत्ति के ही कारण के चार भेद हैं। वास्तव मे तो वानप्रस्थ धर्म एक ही है। अच्छा सुनो।

(१) वैखानस—वैखानस वे प्रानप्रस्थ कहलाते हैं जो आश्रमों मे ही प्रायः रहते हैं। कुलपतियों की छत्रछाया में अपने धर्मों का पालन करते हुए निवास करते हैं। वे बिना हल से जोते बोये—अपने आप उत्पन्न अन्न से निर्वाह करते हैं। भूमि को जोतने बोने में बडी हिंसा होती है। बैलों को भी कष्ट होता है, जीव जन्तु भी बहुत मरते हैं। जल के सहारे तीनी के चावल, समा के चावल अपने आप पैदा हो जाते हैं। इन अन्नों की संज्ञा ऋषि अन्न है। ऐसे अन्न का संग्रह कर लिया। उससे देवता पितरों का भी पूजन कर लिया। कोई सन्यासी अतिथि आगया उसका भी सत्कार कर दिया और अपने आश्रम धम का भी पालन किया।

(२) बालखिल्य— बालखिल्य वानप्रस्थी वे कहाते हैं, कि जो अधिक अन्न संग्रह नहीं करते। जहाँ नवीन अन्न मिला कि जितना उनके पास पहिला अन्न था, उस सब को तुरन्त किसी को दे डालेंगे। वन के फल फूलों को भी ले आवेंगे।

(३) औदुम्बर—औदुम्बर वानप्रस्थी दूसरे दिन का भी अन्न संग्रह नहीं करते। प्रातः काल उठने पर जिस दिशा की ओर दृष्टि गयी, उसी ओर चल देंगे। उधर जो भी कन्द मूल फल मिल जायगा उसे तोड लावेंगे। उखाड लावेंगे। उन्हे लाकर उन्हीं से अपना निर्वाह करेंगे। दूसरे दिन के लिये उसे संग्रह करके नहीं रखेंगे।

(४) फेनप—फेनप वानप्रस्थियों का व्रत और भी कठोर है। वे अपने हाथ से न कोई कन्द उखाडेंगे, न फल तोडेंगे। अपने आप पेड से पककर कोई फल गिर जाय, तो उसे ही लाकर उसीसे निर्वाह करेंगे। अथवा अपने आप गिरे हुए सुखे पत्तों को ही खाकर रह जायँगे।

इन चारों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। आर्यों में श्रेष्ठता सग्रह के कारण नहीं होती, त्याग के कारण होती है। जो जितना ही अधिक त्यागी होगा, जिसकी जितनी ही अधिक वृत्ति शुद्ध होगी, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ समझा जायगा।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वानप्रस्थ की अजीविका तो आपने बता दी। अब यह बताइये वह ग्राम्य वस्त्र तो पहिन नहीं सकता। शरीर का शीतोष्ण निवारण कैसे करे।"

भगवान् ने कहा—"वानप्रस्थी को न्यून से न्यून वस्त्र रखने चाहिये। केवल लोक लाज निवारणार्थ उसे गुह्य अंगों को ढकना चाहिये। भोजपत्र अथवा दूसरे वृक्षों के वल्कलों के वस्त्र पहिनने चाहिये। केला की लँगोटी लगाले। भाँग के छिलको के वस्त्र बना ले। साराश यह है, कि वन में उत्पन्न होने वाले वल्कल, तृण, पत्ते

अथवा मृगचर्म आदि से ही निर्वाह करना चाहिये । नगर के सूती रेशमी चटकीले भटकीले वस्त्रों को न पहिनना चाहिये ।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! वानप्रस्थी अपना रूप कैसा बनावे।"

भगवान् ने कहा—कुछ भी रूप न बनावे। जो रूप बनाता है, उसे फँसना पड़ता है। स्वाभाविक रूप रखे। दाढ़ी, मूँछ, केश, बगल कहीं के बाल न बनवावे। जटा जूट रहे। नखों को भी न कटवावे। नाई का कुछ काम ही न रखे। दँतौन भी न करे। शरीर को मलमल कर धोवे भी नहीं। शरीर पर मल जमता है, तो उसे जमने दे, रगड़ रगड़ कर उस मल को धोवे भी नहीं। मुसल स्नान करे। चुपचाप जल में घुसजाय, डुबकी लगाकर शनैः शनैः निकल आवे। वस्त्र से शरीर को न पोंछे, न रगड़े, शरीर का जल शरीर पर ही सूखने दे। इस प्रकार सदा तीनों समय स्नान करे। यह तो उसके नित्य नियम हैं। इनके अतिरिक्त सदा तपस्या में निरत रहे।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज। तपस्या कैसे करे ?"

भगवान् ने कहा—"शरीर जो भी सुख चाहे उसे न देकर उसके विपरीत ही दे, उसे तपावे, इसी का नाम तपस्या है। जैसे ग्रीष्म ऋतु है। शरीर चाहता है, छाँह में शीतल स्थान में लेटे रहें। धूप में न निकलें, ठंडी वस्तुएँ खाते रहें। वानप्रस्थी को चाहिये वह इसके विपरीत काम करे। अपने लिये वानप्रस्थी कभी कुटी न बनावे। हाँ, अपनी अपनी अग्निहोत्रकी अग्नि के लिये कुटी बनाले या किसी पहाड़ की कन्दरा में उसे सुरक्षित रखे और स्वयं तीनों ऋतुओं में तृणों की भाँति खुले आकाश में रहे।

जब ग्रीष्म ऋतु आवे तब वन से कंडे बीन लावे। खुले मैदान में बैठ जाय, अपने चारों ओर चार कंडों की धूनी लगाकर उनमें आग लगाकर तपस्या करे। चार ओर से तो अग्निका ता

और पाँचवा सूर्य का ताप इस प्रकार पञ्चाग्नितप करे। इस प्रकार नित्य नित्य पचाग्नि तापा करे।

जब वर्षा ऋतु आवे। तो किसी कुटी में या वृक्ष की छाया में न बैठे। सम्पूर्ण वर्षा को अपने सिर पर ही ले। जब वर्षा हो तभी खुले मैदान मे बैठ जाय। जब वर्षा बन्द हो जाय तब उठे। इस प्रकार चारों महीनों की वर्षा को सिर पर से ही उतार दे।

जब जाड़ों के दिन आजाय, तो तड़के प्रात काल ही जाकर कण्ठ पर्यन्त जल में डूबा रहे। जहाँ इतना जल न हो वहाँ गढ्ढा खोद कर जलाशय बना ले। अथवा कोरे घड़ों में जल

भर कर रात्रि में उसे खुले मैदान में रख दे। रात्रि भर ठढे होते रहें। प्रात काल उन्हे अपने सिर पर से उडेले। इस प्रकार गरमी में गरमी, वर्षा में वर्षा और जाड़ो मे जाडे सहकर घोर तपस्या करे।

अग्नि मे पके हुए फल या ऋषि अन्न को खाय, अथवा काल पाकर सूर्य की रोशनी से स्वय पक फलों को ही खाकर काम चलावें। जैसे समा के धान हैं तो उन्हे ओखली मे कूट कर चावल बनाले तब उन्हे रॉधकर खाय। अथवा ओखली का झझट न करे, पत्थरों से ही कूटले। या दॉतों से ही ओखला का काम लेले। चबा चबाकर पेट भर ले। एक बात का सदा ध्यान रखे। अपनी सेवा किसी दूसरे से न करावे। वानवस्थी स्वय ही अपना सेवक होता है। वह जो कद, मूल, फल ऋषि अन्न जो भी लावे स्वय लावे। दूसरों के लाये हुओ का व्यवहार न करे। वे लोग देश काल आदि से अनभिज्ञ रहते हैं। इसलिये दूसरा की लायी हुई वस्तुओं को न ले। कहॉ से फल लाने चाहिये, कैसे लाने चाहिये, कब लाने चाहिये किस प्रकार उन्हे रखना चाहिये, इन सब बातों को तो तपस्या में निरत वानप्रस्थी ही जान सकता है। दूसरे लोग तो इन भेदों को नहीं जानते। वानप्रस्थी को तो अपनी वृत्ति को ही सर्वथा विशुद्ध बनाये रखना है, अतः फल मूलादि लाने में कभी भूल से भी आलस्य प्रमाद न करे।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जब वानप्रस्थी ग्राम्य वस्तुओं का सग्रह ही न करेगा, तो फिर वह अग्निहोत्र किन वस्तुओं से करेगा ?"

भगवान ने कहा—"पुरुष जो भी अन्न खाता है। उसके देवता भी उसी अन्न को ग्रहण करते हैं। वानप्रस्थी वन में उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल फलादि से निर्वाह करता है, तो इन्हीं वस्तुओं के बनाये चरु-पुरोडाशि से ही ससय समय पर होने वाले आग्रय-

णादि कर्मों को करे। नित्य का अग्निहोत्र, प्रति मासकी पूर्णिमा का होने वाला पौर्णमास यज्ञ, प्रत्येक अमावास्या को होने वाला दर्शयज्ञ तथा चतुर्मास में होने वाला चातुर्मास्या यज्ञ, इन सभी यज्ञों को वानप्रस्थी उसी प्रकार करता रहे जैसे घर में रहकर करता था। हाँ, वेद विहित पशु यज्ञ न करे। क्योंकि उसने अहिंसा का व्रत ले रखा है अतः वैदिकी हिंसा को भी न करे। यज्ञ के निमित्त भी पशुओं की वलि देकर मेरा भजन न करे। इन सब कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से करता रहे। वानप्रस्थी का मुख्य धर्म है तपस्या। निरन्तर तपस्या में निरत रहे। भोजन स्वाद के लिये, इन्द्रिय तृप्ति के लिये न करे। इसलिये कुछ आहार ले लिया करे जिससे यह शरीर बना रहे। शरीर दिन दिन तपस्या के कारण कृश होता रहे। मास नाम मात्र को को अब शेप रह जाय। दूर से ही नस नाडियाँ दिखायी दें, हड्डियाँ गिनी जा सकें।

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! ऐसे तपस्या कितने दिन तक करे?"

भगवान् ने कहा—"भैया! इसका कोई निश्चित नियम नहीं। जब तक भी पूर्ण वैराग्य न हो, तब तक ऐसी घोर तपस्या करता ही रहे। वारह वर्ष तक करे। वारह वर्ष न कर सके तो आठ वर्ष, चार वर्ष अथवा दो ही वर्ष तक करे। न हो तो न्यून से न्यून एक वर्ष तक तो करे ही। तपस्या करते समय अपनी शक्ति सामर्थ्य का भी स्मरण रखे। ऐसा न हो, कि अत्यंत तपस्या करने के क्लेश से बुद्धि ही भ्रष्ट हो जाय, मस्तिष्क ही विकृत हो जाय। अपना बलाबल देखकर तपस्या करनी चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! कोई वानप्रस्थी है। तपस्या में प्रवृत्त हुआ, बीच में ही उसे व्याधियों ने घेर लिया। अभी उसे

सन्यासी होने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसी दशा में वह क्या करे ?"

भगवान् ने कहा—"ऐसी अवस्था मे उसे रोग की यथासाध्य चिकित्सा करानी चाहिये। रोग निवृत्त होने पर उसे पुनः तपस्या में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"रोग असाध्य हो, उसके छूटने की सम्भावना ही न हो तो क्या किया जाय। अथवा ज्ञान हुआ नहीं वृद्धावस्था ने घेर लिया। वृद्धावस्था के कारण वानप्रस्थियों के नियमों का पालन ही नहीं हो सके तो क्या किया जाय ?"

भगवान् ने कहा—"यदि वृद्धावस्था या रोग के कारण अपनी क्रियाओं को करने मे असमर्थ हो जाय, तो उसे अनशनादि करके शरीर का त्याग कर देना चाहिये। भृगुपात करके शरीर छोड़ देना चाहिये। ऊँचे पर्वत पर चढ़कर वहाँ से गिर पड़े। अथवा अग्नि मे शरीर को भस्म कर दे। शरीर त्याग के पूर्व लययोग की प्रक्रिया से शरीर सम्बन्धी तत्वों को उन उन के उद्‌भव स्थानों में विलीन कर दे। वैराग्य के अभाव में इस प्रकार शरीर का त्याग करे। यदि वैराग्य हो, तब विधिवत् सन्यास ग्रहण करले। जो सन्यास भी ग्रहण नहीं करता और विधिवत् वानप्रस्थियों के नियमों का पालन करता है अथवा असमर्थ होने से अग्नि मे प्रवेश करके, भृगुपात करके अथवा अनशन के द्वारा शरीर का त्याग करता है, वह शरीर त्याग के अनन्तर तपलोकों को प्राप्त होता है। भूः भुवः और स्वर्ग ये तीन लोक गृहस्थियों के लिये हैं। महलोक उन महार्षियों के लोक हैं जो गृहस्थ होकर भी ऋषि जीवन व्यतीत करते हैं। या जो अवसर प्राप्त प्रजापति, मनु अथवा इन्द्र हैं। जनलोक उन ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को प्राप्त होता है जो भगवान् के जन हैं। तपलोक तपस्वी

वानप्रस्थियों को प्राप्त होते हैं। सत्यलोक सत्य रूप को जानने वाले सर्व त्यागी संन्यासियों को प्राप्त होते हैं और जो मेरे जन हैं, उन्हें तो मेरा ही लोक प्राप्त होता है। अतः इतने कष्ट साध्य तप को जो केवल स्वर्ग की प्राप्ती के ही लिये करता है। हमें उत्तम लोकों की प्राप्ति हो इसी क्षुद्र फल की कामना से करता है, उससे बढकर मूर्ख कौन होगा। अतः जो भी कर्म मेरी प्रसन्नता के निमित्त करे। जिस आश्रम में भी रहे उसी मे मेरे निमित्त कर्म करे तो उसे मेरे ही लोक की प्राप्ति होगी।

यदि तपस्या करते करते इन सभी लोकों से विराग हो जाय। ये सभी लोक नरक तुल्य प्रतीत हो तो उस अवस्था में वानप्रस्थाश्रम को त्याग कर सन्यास लेले। सन्यासाश्रम के धर्म मैं आगे बताऊँगा।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! वानप्रस्थ धर्म के नियम तो बड़े कठिन हैं। महाभाग! कलियुगी लोग इतना तप कैसे कर सकेंगे? उनमें इतनी सहन शक्ति कहाँ होगी। एक दिन भी जाड़ों में कोरे घडो के पानी से प्रातः स्नान किया कि उन्हें नियोनिया हो जायगा। जेठ वैशाख की धूप मे जहाँ भी प्रहर दोपहर तपे कि सदा के लिये तप जायँगे, फिर कलियुग में इस धर्म का निर्वाह कैसे होगा।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ऋषि तो सर्वज्ञ होते हैं, वे तो अपनी ज्ञान दृष्टि से भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातें जानते हैं। ऋषि जानते थे कलियुग में वन ही न रहेंगे। जब

वन ही नहीं तो वानप्रस्थ कैसे ? द्वापर के अंत तक ही ऐसे वन रहेंगे कि जिनके फलों से तपस्वी पेट भर सके। शनैः शनैः वनों पर राजा लोग अधिकार कर लेंगे। पहिले वन किसी के राज्य में नहीं माने जाते थे। उन पर तपस्वियों का ही पूर्ण अधिकार रहता था। कलियुग आने पर वन की भूमि पर भी शासक अधिकार जमा लेंगे। लोभ और दरिद्रता के कारण वनों को काटकर लोग खेती करने लगेंगे। द्विजाति लोग भी फल बेचने लगेंगे। पहिले पत्र, पुष्प, फल, और जल इन वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं होता था। कलियुग में ये सब वस्तुएँ बिकने लगेंगी। पहिले, घास फूँस तृण जो जहाँ से चाहता काट लेता। कलियुग में इन्हें भी लोग न काट सकेंगे। यही सब सोचकर ऋषियों ने कलियुग में वानप्रस्थाश्रम का निषेध किया है। वानप्रस्थाश्रम धर्म का कलियुग मे निर्वाह हो ही नहीं सकता। अतः नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यास तीनों का ही कलियुग में निषेध है। कलियुग में तो एकमात्र भगवान् सकीर्तन ही मुख्य धर्म है। कलियुग में केशव कीर्तन से ही सब धर्मों का फल मिल जाता है। कलियुग में इन आश्रमों के धर्मों को सुनने से ही पुण्य होता है। यथाशक्ति सदाचार पूर्वक रह कर भगवान् की भक्ति करें इसी मे सब कुछ आ जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन सत्य है। अब आप कृपा करके हमें सन्यासाश्रम के धर्मों को और सुनाइये।"

सूत जी ने कहा—"भगवन् ! उद्धव जी ने भगवान् से वान-प्रस्थियों के धर्मों के पश्चात् सन्यासियों के ही धर्मों का प्रश्न किया था। उनके पूछने पर भगवान् ने जैसे सन्यासियों के धर्म बताये, उन्हें मैं आप से कहता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

करै दर्श अरु पौर्णमास मख मोकूँ उर धरि।
वन्य कन्द फल मूल आदि चरु पुरोडास करि॥
तुच्छ स्वर्ग के हेतु व्यर्थ नहिँ देह तपावै।
रुग्ण वृद्ध असमर्थ होहि तनु अनल जरावै॥
यदि होवे वैराग्य तो, अग्नि लीन करि प्रान महँ।
सन्यासी बनि सम रहै, सदा मान अपमान महँ॥